

*Published by:—*

Prof. J. B. Seth I. E. S. (Retd.)  
Secretary, Publication Bureau  
Panjab University.

प्रथम संस्करण, १९५०  
मूल्य २)

All rights including those of translation, reproduction,  
annotation and notes etc. are reserved by the Panjab  
University.

*Printed by—*

L. Khazanchi Ram Jain,  
Manager, Manohar Electric Press,  
Kucha Chailan, Faiz Bazar,  
Darya Ganj, Delhi





## प्राक्कथन

हिन्दी के सरल निबन्धों का यह संग्रह हिन्दी के प्रारम्भिक छात्रों के लिए तैयार किया गया है। इसमें हिन्दी-निबन्ध के प्रथम आचार्य एवं बालकृष्ण भट्ट से लेकर आठवले के उद्दीपनात्मक लेखों तक का समावेश किया गया है। इस प्रकार यह संग्रह पिछले लगभग एक सौ वर्षों की निबन्ध-प्रगति का प्रतिनिधित्व करता है।

निबन्धों के चुनाव में जहाँ विषयों की विविधता और उपादेयता का विचार रखा गया है, वहाँ प्रारम्भिक छात्रों की बौद्धिक क्षमता पर भी दृष्टि रक्षित किया गया है। भाषा का वास्तविक और प्रविष्टा रूप का गान्धीजी के द्वारा बोलचाल भाषा-रूप के अनुकूल हो करने का ध्यान रखा गया है।

लेखों के संकलन में वास्तविकता का अनुसरण किया है। इसका विशेष ध्यान यह है कि हमारे द्वारा जहाँ विषय-भेद और बहिर्-वर्णन में कोई कमी नहीं रहता, वहाँ भाषा और भावों के प्रसन्न विचारों का और लेखकों के वास्तविक भाव-माध्यम और भावों के वास्तविक-प्रकाश का भी एक स्पष्ट चित्र मिले जाता है।

लेखकों के सम्बन्ध की आधारभूत जानकारी 'लेखक-परिचय' में दी गई है और मुखमार्गनि छात्रों को सुझाया है कि प्रथम में, एक लेखक का नाम ही है। लेखकों का उद्देश्य यह है कि वे अपने लेखों में अपने विचारों को व्यक्त करें और अपने विचारों को दूसरों के विचारों से जोड़ें।

राज्य में मैं उन सब लोगों को और प्रकाशकों के प्रति कृतज्ञता में प्रकाश करना हूँ जिन्होंने अपने निबन्धों को इस संग्रह में सम्मिलित करने की अनुमति देकर हिन्दी के प्रसार में सहयोग प्रदान किया है।  
 अनन्तः सरस्वती की सेवा के कारण वे सभी सरस्वती-भक्तों के धन्यता के पात्र हैं।

संज्ञाच नूतिवर्दिनी

प्रकाशन विभाग

जिमखी

१२-३-२०

—रघुनन्दन

लेख-लतिका















जिसे शास्त्रार्थ कहते हैं, कभी आवेगा ही नहीं। मुर्ग और बटेर को लड़ाइयों की मपटा-मपटी के समान उनकी नीरस काँव-काँव में सरस संलाप की तो चर्चा ही चलाना व्यर्थ है, वरन् कपट और एक-दूसरे को अपने पाण्डित्य के प्रकाश से वाद में परास्त करने का संघर्ष आदि रसामास की सामग्री वहाँ बहुतायत के साथ आपको मिलेगी। घंटे भर तक काँव-काँव करते रहेंगे तो सुख न होगा। बड़ी-बड़ी कंपनी और कारखाने आदि बड़े-से-बड़े काम इसी तरह पहले दो-चार दिली दोस्तों की बातचीत से ही शुरू किये गए। उपरांत बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक बढ़े कि हजारों मनुष्यों की उनसे जीविका चलने लगी और साल में लाखों की आमदनी होने लगी। पचीस वर्ष के ऊपरवालों की बातचीत अवश्य ही सुख-न-सुख सारगर्भित होगी,—अनुभव और दूरदर्शिता से खाली न होगी और पचीस से नीचे की बातचीत में यद्यपि अनुभव, दूरदर्शिता और गौरव नहीं पाया जाता पर इसमें एक प्रकार का ऐसा दिलबढ़लाप और ताजगी रहती है जिसकी मिठास उससे दस गुना बड़ी-बड़ी है।

यहाँ तक हमने बाहरी बातचीत का हाल लिखा है जिसमें दूसरे करीक\* के होने की बहुत आवश्यकता है, बिना किसी दूसरे मनुष्य के हुए जो किसी तरह संभव नहीं है और जो वा ही तरह पर हो सकती है—या तो कोई हमारे यहाँ कृपा करे या हमी जाकर दूसरे को कृतार्थ करें। पर यह सब तो दुनिया-दारी है जिसमें कभी-कभी रसामास होते देर नहीं लगती, क्योंकि जो महाशय अपने यहाँ पधारें उनकी पूरी दिलजोई न हो सकी तो शिष्टाचार में घुटि हूँ। अगर हमी उनके वहाँ गये तो पहले तो बिना बुलाये जाना ही अनादर का मूल है और ज्ञान पर अपने मन-माफिक बर्ताव न किया गया तो मानों एक दूसरे प्रकार का नया पाव हुआ। इमालिग मयमें









नाटक देखने की छुट्टी मिली। इसमें हरिश्चन्द्र की कथा थी। यह नाटक देखने से मेरी तृप्ति नहीं होती थी। बार-बार उसे देखने को मन हुआ करता, पर बार-बार जाने कौन देता ? पर अपने मन में मैंने हरिश्चन्द्र का नाटक सैकड़ों बार सेला होगा। हरिश्चन्द्र के सपने आया करते। यही धुन लगी कि हरिश्चन्द्र की तरह सत्यवादी सब क्यों न हों ? वही धारणा\* होती कि हरिश्चन्द्र के जैसी विपत्तियां भोगना और सत्य का पालन करना ही सच्चा सत्य है। मैंने तो यही मान रखा था कि नाटक में जैसी विपत्तियां हरिश्चन्द्र पर पड़ी हैं, वैसी ही वास्तव में उस पर पड़ी होगी। हरिश्चन्द्र के दुःखों को देख कर और उन्हें याद करके मैं खूब रोया हूँ। आज मेरी बुद्धि कहती है कि संभव है, हरिश्चन्द्र कोई ऐतिहासिक\* व्यक्ति न हो, पर मेरे हृदय में तो हरिश्चन्द्र और अथर्व आज भी जीवित हैं। मैं मानता हूँ कि आज भी यदि मैं उन नाटकों को पढ़ूँ तो आँसू आये बिना न रहें।

## (२) हाई स्कूल में

जब मेरा विवाह हुआ तब मैं हाई स्कूल में पढ़ता था। हाई स्कूल में मैं मन्द-बुद्धि विद्यार्थी नहीं माना जाता था। शिक्षकों का प्रेम तो मैंने सदा प्राप्त किया था। हर साल माता-पिता को विद्यार्थी की पढ़ाई तथा चाल-चलन के सम्बन्ध में प्रमाणपत्र भेजे जाते थे। इनमें किसी दिन मेरी पढ़ाई या चाल-चलन की शिकायत नहीं की गई। दूसरे दर्जे के बाद इनाम भी पाये और पाँचवें तथा छठे दर्जे में तो क्रमशः ५) और १०) मार्मिक की छात्रवृत्तियां\* भी मिली थी। इस सफलता में मेरी योग्यता की अपेक्षा भाग्य का ज्यादा जोर था। ये छात्रवृत्तियां सब लड़कों के लिए नहीं, मौराष्ट्र प्रान्त\* के विद्यार्थियों के ही लिए थी और उस समय चालीस पचास



की आदत मुझे पड़ गई, जो अब तक है। घूमना भी व्यायाम तो है ही; और इससे मेरा शरीर ठीक-ठीक गठोला हो गया।

व्यायाम की जगह घूमना जारी रखने की यजह से शरीर से कमरत न करने की मूल के लिए तो मुझे सजा नहीं भोगनी पड़ी, पर दूसरी एक मूल की सजा मैं आज तक भोग रहा हूँ। पता नहीं कहाँ मे, यह रालन खयाल मुझे मिल गया था कि पढ़ाई में मुनेख\* की चररत नहीं है। यह विलायत जाने तक बना रहा। बाद में तो मैं पढ़ताया और शरमाया। मैंने समझा कि अक्षरों का खराब होना अपूरी शिक्षा की निरानी है। अतः हरेक नवयुवक और युवती मेरे इस उदाहरण से सबक ले और समझे कि सुन्दर अक्षर शिक्षा का आवश्यक अंग है।

इस समय के मेरे विद्यार्थी-जीवन की दो बातें लिखने-जैसी हैं। चौथे दरजे से बुद्ध विषयों की शिक्षा अंग्रेजी में हो जाती थी, पर मैं बुद्ध समझ ही नहीं पाता था। रेखागणित में मैं यों भी पीछे था, और फिर अंग्रेजी में पढ़ाये जाने के कारण और भी समझ में न आता था। शिक्षक समझाने तो अच्छा थे; पर मेरी समझ में न आता था। मैं बहुत बार निराश हो जाता। परिश्रम करते-करते जब रेखागणित की तेरहवीं राक पढ़ूँचा, तब मुझे एकाएक लगा कि रेखागणित तो सब से आसान विषय है। जिस बात में केवल बुद्धि का सीधा और सरल प्रयोग ही करना है उसमें मुश्किल क्या है? उसके बाद से रेखागणित मेरे लिए सहज और मजेदार विषय हो गया।

संस्कृत मुझे रेखागणित से भी अधिक मुश्किल मालूम पड़ी। रेखागणित में तो रटने की कोई बात न थी, परन्तु संस्कृत में मेरी दृष्टि से अधिक काम रटने का ही था। यह विषय भी चौथी कक्षा से शुरू होता था। छठी कक्षा में जाकर तो मेरा दिल बैठ गया। संस्कृत-शिक्षक बड़ मरत थे। विद्या-



तब यह विकृत साहित्य में मस्तिष्क भी विकारग्रस्त होकर रोगी हो जाता है। मस्तिष्क का बलवान् और शक्तिमंज होना अच्छे ही साहित्य पर अवलंबित है। अतएव यह बात निर्धारित है कि मस्तिष्क के यथेष्ट विकास का एकमात्र साधन अच्छा साहित्य है। यदि हमें जीवित रहना है और सम्यक्ता की दृष्टि में अभ्य जातियों की पराधीन करना है तो हमें सम-पूर्वक, बड़े उत्साह से, साहित्य का उत्पादन और प्राचीन साहित्य की रक्षा करनी चाहिए। और यदि हम अपने मानसिक जीवन की हत्या करके अपनी वर्तमान दयनीय दशा में पड़ा रहना ही अच्छा समझते हैं तो आज ही साहित्य-निर्माण के आह्वान का विमर्जन कर डालना चाहिए।

आज बड़ा करारा और देशों तथा जातियों की ओर तो देखिए। आप देखेंगे कि साहित्य ने वहाँ की सामाजिक और राजकीय स्थितियों में कैसे-कैसे परिवर्तन कर दिये हैं। साहित्य ने वहाँ समाज की दशा सुदृढ़ की-सुदृढ़ कर दी है; सामन-प्रबंध में बड़े-बड़े व्यवस्थापन कर दिये हैं; वहाँ तक कि अनुराग और धार्मिक भावों को भी जड़ से उखाड़ दिया है। साहित्य में जो शक्ति दिखी रहती है, वह योग, ललवार और बम के गोलों में भी नहीं पाई जाती। योद्धा में हानिकारिणी धार्मिक क्रूरियों का उत्पादन साहित्य ही ने किया है। जातीय स्वार्थ्य के बीज उगी ने बोए हैं। व्यक्तिगत स्वार्थ्य के भावों को भी उगी ने बोया, पोसा और बढ़ाया है। पतित देशों का पुनरुत्थान भी उगी ने किया है। योग की अनुता का किमन कम किया है ? काम में दशा की मना का उत्पादन और पत्रपत्र किमन किया है ? पत्रपत्र इत्यादि का मानक किमन दिया पड़ाया है ? मस्तिष्क न, मस्तिष्क न मस्तिष्क न । प्रेम साहित्य में इतनी शक्ति है कि मस्तिष्क मृदु को जो शक्ति प्राप्त करता है वह शक्ति



प्राप्त कर लेने और उसमें महत्वपूर्ण ग्रन्थ-रचना करने पर भी विशेष सफलता प्राप्त नहीं हो सकती और अपने देश को विशेष लाभ नहीं पहुँच सकता। अपनी माँ को निरासहाय, निरुपाय और निर्धन दशा में छोड़ कर जो मनुष्य दूसरे की माँ की सेवा-शुभूषा में रत है उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित्त होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य या आपस्तम्ब ही कर सकता है।

मेरा यह मतलब कदापि नहीं कि विदेशी भाषाएँ सीखनी ही न चाहिएँ। नहीं, आवश्यकता, अनुरूपता, अवसर और अवकाश होने पर हमें, एक नहीं, अनेक भाषाएँ सीख कर ज्ञानार्जन करना चाहिए; द्वेष किसी भाषा से न करना चाहिए; ज्ञान वही भी मिलता हो उसे ग्रहण ही कर लेना चाहिए। परन्तु अपनी ही भाषा और उसी के साहित्य को प्रधानता देनी चाहिए; क्योंकि अपना, अपने देश का, अपनी जाति का उपकार और कल्याण अपनी ही भाषा के साहित्य की उन्नति से हो सकता है। ज्ञान, विज्ञान, धर्म और राजनीति की भाषा सदैव लोकभाषा ही होनी चाहिए। अतएव अपनी भाषा के साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि करना, सभी दृष्टियों से, हमारा परम धर्म है।

## क्या जानवर भी सोचते हैं ?

( श्री पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी )

जानवरों से हमारा मतलब पशुओं से है। क्या पशु भी विचार करते हैं, सोचते हैं, समझ रखते हैं या धितना करते हैं ? हार्पस मैगडोन-नामक एक अंग्रेजी सामयिक पुस्तक में, एक





जानवरों में मानसिक व्यापार के कोई चिन्ह नहीं देख पड़ते। किसी आंतरिक प्रवृत्ति, उत्तेजना या शक्ति की प्रेरणा से ही वे सब शारीरिक व्यापार करते हैं। किसी मतलब से कोई काम करना बिना ज्ञान के—बिना बुद्धि के—नहीं हो सकता। ज्ञान दो तरह का है—स्वाभाविक\* और उपार्जित।\* स्वाभाविक पशुओं में और उपार्जित मनुष्यों में होता है। हम सब काम सोच-समझ कर जैसा करते हैं, जानवर वैसा नहीं करते। उनमें विचार-शक्ति ही नहीं है; उनके मन में विचारों के रहने की जगह ही नहीं; क्योंकि वे घोल नहीं सकते। ठीक-ठीक विचारणा या भावना बिना भाषा के नहीं हो सकती। भाषा ही विचार की जननी है। भाषा ही से विचार पैदा होते हैं। वाणी और अर्थ का योग सिद्ध ही है। शब्दों से अर्थ या विचार उसी तरह अलग नहीं हो सकते, जैसे पदार्थों के आकार उनसे अलग नहीं हो सकते। जहाँ आकार देख पड़ता है, वहाँ पदार्थ जरूर होता है। जहाँ विचार होता है, वहाँ भाषा जरूर होती है। बिना भाषा के विषय-ज्ञान और विषय-प्रवृत्ति इत्यादि-इत्यादि बातें हो सकती हैं, परन्तु विचार नहीं हो सकता। पशु अपनी इंद्रियों की सहायता से ही पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। जो पदार्थ समय और आकाश में विद्यमान रहते हैं, सिर्फ उन्हीं का ज्ञान पशुओं को इंद्रियों से होता है, और पदार्थों का नहीं। पशुओं में स्मरण-शक्ति नहीं होती, पुरानी बातें उन्हें याद नहीं रहती। यही पृथोक साहच्य का मत है।

इनमें से बहुत-सी बातों का खंडन हो सकता है। कुछ का खंडन लोगों ने किया भी है। विचार क्या चीज है? सोचना किसे कहते हैं? सिर में एक प्रकार के ज्ञान-तंतु हैं। बाहरी जगत् की किसी चीज या शक्ति का प्रतिबिम्ब-रूपी छप्पा, जो इन तंतुओं पर उठ आता है, उसी का नाम विचार है। जितने



कालिदास ने रघुवंश लिखा और भवभूति ने उत्तरराम-चरित । पर किम तरह उनके मन में इनको लिखने की बात आई ? आप-ही-आप । विचार करने की जरूरत नहीं पड़ी । पहले-पहल उनके मस्तिष्क में इनको लिखने की इच्छा स्वतः मंभूत\* हुई । संसार में एक भी मनुष्य ऐसा नहीं हुआ, जिसने अपनी इच्छा से कोई ऐसा काम किया हो, जिसका या जिम की मामलों का अस्तित्व पहले ही से विद्यमान न रहा हो ।

यदि कोई जानवर कोई काम किसी इरादे से करे, और जिम ज्ञानात्मिका बुद्धि से वह इरादा पैदा हुआ हो, वह बुद्धि स्वाभाविक हो तो उससे क्या ? उससे कोई नया मिष्टान्त नहीं निकलता । चाहे वह स्वाभाविक हो, चाहे उपार्जित—पान बही रहनी है । उससे ज्ञान का न होना—बुद्धि का न होना—नहीं मापित होता । ज्ञान, चाहे जिम प्रकार का हो, वह है तो । ताजमहल की कल्पना करनेवाले में भी ज्ञान था, और पोंसला या सार बनानेवाले जीवों में भी वह है । किसी में कम, किसी में ज्यादा । मकड़ी, चिड़ियाँ, सोमड़ी और भीड़ी इत्यादि छोटे-छोटे जीव तक अपने-अपने काम में ज्ञान रखने का प्रमाण देते हैं, और ज्ञान मन का व्यापार है । मन में ज्ञान का बहुत बड़ा सम्बन्ध है । तो फिर यह कैसे कह सकते हैं कि जानवरों में मानसिक विचार की शक्ति नहीं है ?

जो कुछ हम मोचने या करने है, वह इन्द्रियों पर पड़े हुए चित्र का कारण नहीं है । उसका कारण ज्ञान है । एक किताब या कूर्मी की तमबीर मकई की इन्द्रियों पर भी वैसी ही भिचेली, उँसी पालने पर पड़े हुए छोटे बालक की इन्द्रियाँ पर । पर जिसमें जितना ज्ञान होता है जिसमें जितना पान रहता है उँसी के अनुसार सामर्थिक पदार्थों का शक्तियों का ज्ञानमान सर्वियों का महत्त्व न्यूनता के मान में मान करी दम



भरा पड़ा है, जिधर देखो उधर कर्तव्य ही कर्तव्य देख पड़ने हैं। वस इमी कर्तव्य का पूरा-पूरा पालन करना हम लोगों का धर्म है, और इमी से हम लोगों के चरित्र की शोभा बढ़ती है। कर्तव्य का करना न्याय पर निर्भर है और यह न्याय ऐसा है जिसे ममझने पर हम लोग प्रेम के साथ उसे कर सकते हैं।

हम सब लोगों के मन में एक ऐसी शक्ति है जो हम सभी को बुरे कामों के करने से रोकती और अच्छे कामों की ओर हमारी प्रवृत्ति को झुकाती है। यह बहुधा देखा गया है कि जब कोई मनुष्य थोड़ा काम करता है तब बिना किसी के बहे आप ही लज्जाता और अपने मन में दुःखी होता है। लड़को ! तुमने बहुधा देखा होगा कि जब कभी कोई लड़का किसी मिठाई को चुराकर खा लेता है तब वह मन में डरा करता है और पीछे से आप ही पछताता है कि मैं ने ऐसा काम क्यों किया, मुझे अपनी माता से कह कर खाना था। इमी प्रकार का एक दूसरा लड़का, जो कभी कुछ चुरा कर नहीं खाता, मदा प्रमत्त रहता है और उसके मन में कभी किसी प्रकार का डर और पछताया नहीं होता। इसका क्या कारण है ? यही कि हम लोगों का यह कर्तव्य है कि हम कभी चोरी न करें। परन्तु जब हम चोरी कर बैठते हैं तब हमारी आत्मा हमें बोलने लगती है। इसलिए हमारा यह धर्म है कि हमारी आत्मा हमें जो कहे, उसके अनुसार हम करें। तब विरथास रखो कि अब तुम्हारा मन किसी काम के करने से हिचकिचाये और दूर भागे तब कभी तुम उस काम को न करो। तुम्हें अपना धर्म-पालन करने में बहुधा कष्ट उठाना पड़ेगा, पर इससे तुम साहम न छोड़ो। क्या हुआ जो तुम्हारे पड़ोसी ठगाबिद्या और अमत्यपरता\* से धनाह्व, हो गये और तुम कंगाल हो रह गये। क्या हुआ जो हमारे लोगों ने भूखी चादुकारी\* करके बड़ी-बड़ी नौबरियों पा ली और तुम्हें



जितने कर्म उन्होंने किये उन सभी में अपने कर्तव्य पर ध्यान दे कर न्याय का वर्तव्य किया। जिन जातियों में यह गुण पाया जाता है वे ही संसार में उन्नति करती हैं और संसार में उनका नाम आदर के साथ लिया जाता है। एक समय हिमाली श्रेणी जहाज में, जब वह घाँघ समुद्र में था, एक छंद हो गया। उस पर बहुत-सी स्त्रियाँ और पुरुष थे। उसके बचाने का पूरा-पूरा उद्योग किया गया, पर जब कोई उपाय मफल न हुआ तब जितनी स्त्रियाँ उस पर थी सब नावों पर चढ़ कर बिदा कर दो गईं, और जितने मनुष्य उस पोत पर बच गये थे, उन्होंने उसकी छत पर इकट्ठे होकर ईश्वर को धन्यवाद दिया कि ये अब तक अपना कर्तव्य पालन कर सके और स्त्रियों की प्राण-रक्षा में सहायक हो सके। निदान इसी प्रकार ईश्वर की प्रार्थना करते-करते उस पोत में पानी भर आया और वह डूब गया, पर ये लोग अपने स्थान पर उद्यो-के-र्यों खड़े रहे, उन्होंने अपने प्राण बचाने का कोई उद्योग नहीं किया। इसका कारण यह था कि यदि वे अपने प्राण बचाने का उद्योग करते तो स्त्रियाँ और बच्चे न बच सकते। इसी लिए उस पोत के लोगों ने अपना धर्म यही समझा कि अपने प्राण देकर स्त्रियों और बच्चों के प्राण बचाने चाहिए। इस के विकृत प्रार्थन देश के रहने वालों ने एक झपटते हुए जहाज पर से अपने प्राण तो बचाये किन्तु उस पोत पर जितनी स्त्रियाँ और बच्चे थे उन सभी को उसी पर छोड़ दिया। इस नीच कर्म की सारे संसार में निंदा हुई। इसी प्रकार जो लोग स्वार्थी होकर अपने कर्तव्य पर ध्यान नहीं देते, वे संसार में लज्जित होन हैं और सब लोग उनसे पृष्ठा करते हैं।

कर्तव्य-पालन से और गरवना से बड़ा धनिष्ठ सम्बन्ध है। जो मनुष्य अपना कर्तव्य-पालन करता है वह अपने कामों और





में ही अपना परम गौरव मानने हैं। ऐसे लोग ही समाज को नष्ट करके दुःख और संताप के फैलाने के मुख्य कारण होते हैं। इस प्रकार का भूठ खोलना स्पष्ट न खोजने में अधिक निहित और कुत्सित कर्म है।

भूठ खोलना और भी कई रूपों में देखा पड़ता है। जैसे चुप रहना, किसी बात को बढ़ाकर कहना, किसी बात को छिपाना, भेस बदलना, भूठ-भूठ कहना, दूसरों के साथ हाँ में हाँ मिलाना, प्रतिष्ठा करके उसे पूरा न करना और सत्य न खोलना इत्यादि। जबकि ऐसा करना धर्म के विरुद्ध है, तथा यह सब बातें भूठ खोलने में किसी प्रकार कम नहीं हैं। फिर ऐसे लोग भी होते हैं जो मुँह-देखी बातें बनाया करते हैं, परन्तु करते यही काम हैं, जो उन्हें रुचता है। ऐसे लोग मन में समझते हैं कि कैसा सब को मूर्ख बना कर हमने अपना काम कर लिया, पर वास्तव में वे अपने को ही मूर्ख बनाते हैं और अंत में उनकी पोल खुल जाने पर समाज में सब लोग पृष्ठा करते और उनसे बात करना अपना अपमान समझते हैं।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो अपने मन में किसी गुण के न रहने पर भी गुणवान् बनना चाहते हैं। जैसे यदि कोई पुरुष कविता करना न जानता हो, पर वह अपना दंग ऐसा बनाये रहे त्रिमंसे लोग समझें कि वह कविता करना जानता है, तो वह कविता का आर्डर रखने वाला मनुष्य भूठा है, और फिर वह अपने भेस का निर्वाह पूरी रीति में न कर सके पर दुःख महता है और अंत में भद खुल जाने पर सब लोगों की आँखों में भूटा और जोष गिना जाना है। परन्तु जो मनुष्य सत्य बोलता है वह आदर में रह जायता है और उसे किसी भी नज़र नहीं रुचता। उसे तो इसी में बड़ा मनाप और आनंद होता है कि मैं-मैंना हूँ साथ वह अपना कर्म करता जानता है।



आकाश का हरण हमारे लिए निर्मात मिश्रण होता। आकाश में एक भी आकाश-गंगा न दिखाई देती। जो नक्षत्र जिस प्रकार आज हम देखते हैं, वे तो शायद कहीं देख न पड़ते या असंख्य नीहारिकाओं के नीहार में छिप जाते। साथ ही अनेक नये जागृतमान नक्षत्र और तारे नये-नये स्थानों में दिखाई पड़ते। इनमें हमें अपने सूर्य-चन्द्रमा भी खूँटे न मिलते।

ऐसी अद्भुत अनंतता, विचित्र अनारिता और विमयभारी अमध्यता जिस विराट् पुरुष के अन्दर है, उसके "पारोक्ष्य विरथा भूतानि"—एक पीछा में ही सारे विरथों की सृष्टि है !!!

हमारी आकाश-गंगा भी ऐसी ही एक नीहारिका है, जिसमें हमारे जैसे असंख्य जघांड हैं। अनेक धन चुके हैं, अनेक धन रहे हैं, अनेक भविष्य के गर्भ में निहित हैं। हमारे जघांड में भी अनेक प्रह हैं जो हमारी पृथ्वी-सरीसृप बड़े-बड़े पिंड हैं। कई संसार-रचना की तैयारी में हैं, कई के संसार संसरण\* कर रहे हैं, कई के संसार अपनी पूर्णायु भोगकर अपनी यात्रा की सीमा की ओर चल रहे हैं और कई उसी सीमा पर पहुँचकर यात्रा पूरी कर चुके हैं। हमारी धरती ने अभी अपना जीवन आरंभ किया है। अनेक वैज्ञानिकों के मत से इसके जीवनमय जीवन को कुछ ऊपर दो करोड़ बरस हुए होंगे। हिंदुओं का भी ऐसा ही मत है। वे कहते हैं कि खेत्वा रात्राह कल्प का यह अट्टाईसवाँ कलियुग है, जिसके केवल पाँच हजार इकतीस बरस बीते हैं। इस हिसाब से भी दो करोड़ से कुछ ऊपर बरस बीत चुके हैं।

हमारी गणना केवल यही नहीं मेल खाती; सभी जगह हमारी पौराणिक संख्याएँ वैज्ञानिक संख्याओं से मेल खाती हैं। इतना ही नहीं, विश्व की सृष्टि के सिद्धांत भी मिलते हैं। कथाओं पर विचार करने से अद्भुत मेल मिलता है। क्षीर-सागर,

## मजदूरी और प्रेम

शेष-शय्या, महालक्ष्मी-नारायण का शयन, कमल का उद्भव  
मध्या की उत्पत्ति, मधुकैटभ का युद्ध, मेदिनी-निर्माण, मंगल की  
उत्पत्ति इत्यादि कथाओं का एक बहुत ही विचित्र समन्वय\*  
होता है।

## मजदूरी और प्रेम

( श्री प्रो० पूर्णसिंह एन. एल.सी. )

हल चलाने और भेड़ चरानेवाले प्रायः स्वभाव से ही  
साधु होते हैं। हल चलानेवाले अपने शरीर का हवन किया  
करते हैं। मवेशियों की हवनशाला\* है। उनके हवनकुंड की ज्वाला  
की फिरिंगें घायल के लंबे और सखेद दानों के रूप में निकलती  
हैं। गेहूँ के लाल-लाल दाने इन अग्नि की चिंगारियों की  
तलियाँ-नी हैं। मैं जब कभी अनार के फूल और फल देखता  
हूँ तब मुझे बाग के माली या रुधिर दाद आ जाता है। उसकी  
मेहनत के कारण हमारे मंजूर में गिरकर वो है, और हवा तथा प्रकाश  
की महायत्ना ने ये मीठे फलों के रूप में नजर आ रहे हैं।  
किमान मुझे अन्न में, फूल में, फल में, आहुति हुआ-स्ता  
दिगाई देता है। बरते हैं महाहवि ने जगत् पैदा हुआ।  
अन्न पैदा करने में किमान भी भद्रा के समान है।  
दया, धीरता और प्रेम जैसा इन किमानों में देखा जा सकता है।

अन्न पैदा करने में किमान भी भद्रा के समान है।  
दया, धीरता और प्रेम जैसा इन किमानों में देखा जा सकता है।  
अन्न पैदा करने में किमान भी भद्रा के समान है।





को उसने अवश्य देखा है। फूले श्रंग नहीं समाता; रंग-रंग उसकी नाच रही है। पिता को ऐसा सुखो देख दोनों कन्याओं ने एक-दूसरे का हाथ पकड़ कर पहाड़ी राग अलापना आरंभ कर दिया। साथ ही धम-धम धम-धम नाच कर उन्होंने भूम मचा दी। मेरी आँखों के सामने मद्धानंद का समोँ बाँध दिया। मेरे पास मेरा भाई खड़ा था। मैंने उसे कहा—“भाई, अब मुझे भी भेड़ें ले दो।” ऐसे ही मूक जीवन से मेरा भी कल्याण होगा। शिवा को भूल जाऊँ तो अच्छा है। मेरी पुस्तकें खो जावें तो उत्तम है। ऐसा होने से कदाचित् इस बनवासो परिवार की तरह मेरे दिल के नेत्र खुल जायँ और मैं ईश्वरीय मल्लक देख सकूँ। चंद्र और सूर्य की विस्तृत उद्योति में जो वेदगान\* हो रहा है उसे इस गडरिये की कन्याओं की तरह मैं सुन तो न सकूँ, परन्तु कदाचित् प्रत्यक्ष देख सकूँ। कहते हैं श्रपियों ने भी, इनको देखा ही था, सुना न था। पण्डितों की उटपटांग बातों से मेरा जो उकता गया है। प्रकृति की मंद-मंद हँसी में ये अनपढ़ लोग ईश्वर के हँसते हुए ओंठ देख रहे हैं। पशुओं के अज्ञान में गंभीर ज्ञान छिपा हुआ है। इन लोगों के जीवन में अद्भुत आत्मानुभव भरा हुआ है। गडरिये के परिवार को प्रेम-मजदूरी का मूल्य कौन दे सकता है ?

आपने पार आने जैसे मजदूर के हाथ में रखकर कहा—“यह लो दिन भर की अपनी मजदूरी।” वाह, क्या दिलगी है ! हाथ, पाँव, सिर, आँखें इत्यादि सब-के-सब अवयव\* उसने आपको अर्पण कर दिये। ये सब चीजें उसकी तो थी ही नहीं, ये तो ईश्वरीय पदार्थ थे। जो जैसे आपने उसको दिये वे भी आप के न थे। वे तो पृथ्वी से निकाले हुए धातु के टुकड़े थे; अतएव ईश्वर के निर्मित थे। मजदूरी का अण तो परस्पर की प्रेम-सेवा में चुकना होता है, अन्न-पान देने से नहीं। वे तो





धर्म और फलाकौराल में धमी उन्नति नहीं कर सकते ! पद्मासन\* निकम्मे हो चुके । ये ही आसन ईश्वर-प्राप्ति करा सकते हैं जिनसे जोतने, घोने, काटने और मजदूरी का काम लिया जाता है । लकड़ी, ईंट और पत्थर को मूर्तिमान करने-वाले लुहार, बदर्द, मेमार तथा किसान आदि वेमै ही पुरुष हैं जैसे कि, कवि, महात्मा और योगी आदि । उत्तम-से-उत्तम और नीच-से-नीच काम, सच-के-सच प्रेम-शरीर के अंग हैं ।

निकम्मे रहकर मनुष्यों की चित्तन-शक्ति थक गई है । धिस्तरोँ और आममों पर सोते और बैठे मन के घोड़े हार गये हैं । सारा जीवन निचुड़ चुका है । स्वप्न पुराने हो चुके हैं । आज-कल की कविता में नयापन नहीं । उसमें पुराने खमाने की कविता की पुनरावृत्ति मात्र है । इस नकल में असल की पवित्रता और कुँवारेपन का अभाव है । अब तो एक नये प्रकार का फला-कौराल-पूर्ण संगीत साहित्य-संसार में प्रचलित होने वाला है । यदि वह न प्रचलित हुआ तो मरीनों के पहियों के नीचे दबकर हमें मरा समझिए । यह नया साहित्य मजदूरों के हृदय से निकलेगा । उन मजदूरों के कंठ से वह नई कविता निकलेगी जो आनंद के साथ खेत की भेड़ों का, कपड़े के तारों का, जूते के टाँकों का, लकड़ी के रंगों का, पत्थर की नमों का भेदभाव दूर करेंगे । हाथ में कुल्हाड़ी, मिर पर टोकरी, नंगे मिर और नंगे पाँव, धूल से लिपटे और कीचड़ से रँगे हुए ये ये-खान\* कवि अब जंगल में लकड़ी काटेंगे तथा लकड़ी काटने का शब्द इनके असम्भ्य स्वरोँ से मिश्रित होकर धायु-यान पर चढ़ दशों दिशाओं में ऐसा अद्भुत गान करेगा कि भविष्य के कलावंतों के लिए यही ध्रुपद और मलार का काम देगा । चरखा कावनेवाली स्त्रियों के गीत संसार के कौमो गीत होंगे । रों की मजदूरी ही यथार्थ पूजा होगी । कलारूपी धर्म की



की हलवा-पूरी उन्होंने एक हाथ में और भाई लालो की मोटी रोटी दूसरे हाथ में लेकर दोनों को जो दयाया सो एक से लोड टपका और दूसरी से दूध की धारा निकली। बाबा नानक का यही उपदेश हुआ ! जो धारा भाई लालो की मोटी रोटी से निकली थी वही समाज का पालन करने वाली दूध की धारा है। यही धारा शिवजी की जटा से और यही धारा मजदूरों की उँगलियों से निकलती है।

मजदूरी करने से हृदय पवित्र होता है; संकल्प दिव्य लोकांतर में विचरते हैं। हाथ की मजदूरी ही से सच्चे ऐश्वर्य की उन्नति होती है। जापान में मैंने कन्याओं और स्त्रियों को ऐसी पलायनी\* देखा है कि ये रेशम के छोटे-छोटे टुकड़ों को अपनी दस्तकारी की बदीलत हजारों की कीमत का बना देती हैं, नाना प्रकार के प्राकृतिक पदार्थों और द्रव्यों को अपनी सूई से कपड़े के ऊपर अंकित कर देती हैं। जापान-निवासी काराज, लकड़ी और पत्थर की बड़ी अच्छी मूर्तियाँ बनाते हैं। करोड़ों रुपये के हाथ के बने हुए जापानी सिलौने विदेशों में विक्रते हैं; हाथ की बनी हुई जापानी चीजें मशीन से बनी हुई जापानी चीजों को मात करती हैं। संसार के सब बाजारों में उनकी बड़ी माँग रहती है। पश्चिमी देशों के लोग हाथ की बनी हुई जापान की अहुत वस्तुओं पर जान देते हैं। एक जापानी तत्त्वज्ञानी\* का कथन है कि हमारी दस करोड़ उँगलियाँ सारे काम करती हैं। इन उँगलियों ही के बल से, संभव है, हम जगत् को जीत लें ("We shall beat the world with the tips of our fingers")। जब तक धन और ऐश्वर्य की जन्मदात्री हाथ की कारीगरी की उन्नति नहीं होती तब तक भारतवर्ष ही की क्या, किसी भी देश या जाति की दरिद्रता दूर नहीं हो सकती। यदि भारत की तीस करोड़ नर-नारियों की उँगलियाँ मिलकर कारीगरी के काम













के आराम और रैयत की भलाई में लगी रहे तो नैतिकोष  
आहिर होना, खेतियों तथा चारों की पैदावारों का बड़ा  
शुभफल नहीं है। खुदा का शुक्र है कि इस सलतनत\* (हिंदुस्तान)  
में पेड़ों के हासिल लेने की लाग कमी नहीं थी और न इस  
है। अमलदारी के सारे मुल्कों में एक दाम और एक कौड़ी में  
इस सीरो (खाते) की दीवान-आला और खजाने आमरे में दाखिल  
नहीं होती है, बल्कि हुक्म है कि जो कोई खेती की जमीन में बाग  
लगावे तो उसका हासिल माफ रहे। उम्मीद है कि सच्चा खुदा  
इस न्यायमंद (दीन-हीन) को हमेशा नेकनीयती की भद्रा दे।

“जब मेरी नीयत भलाई की है तो तू मुझे भलाई दे।”  
फारसी भाषा के एक कवि ने बादशाहों की नेकनीयती टाकसान  
करते हुए कहा है—

‘यू नीयत नेक बादशाह बादशाह रा।

बजाए गुल ‘गुहर नेमद गिया रा ॥

‘अर्थात् जो बादशाह की नीयत नेक हो तो फूल की जगह  
घास में मोती लगे।’

## राम और भरत

( श्री पं० रामचन्द्र गुल )

अनंत शक्ति के साथ धीरता, गंभीरता और कोमलता ‘राम’  
का प्रधान लक्षण है। यही उनका ‘रामत्व’ है। अपनी शक्ति  
की स्वानुभूति\* ही उस उरमाह का मूल है जिससे बड़े-बड़े  
दुःसाध्य कम हो जाते हैं। बान्ध्यावस्था में ही जिस प्रसन्नता के  
साथ दोनों भाइयों ने घर छोड़ा और विश्वामित्र के साथ बाहर

\* ‘दुःख प्रहर्त्री,’ त्रिपद २, २८ २२३-२४।



के आराम और रैयत की भलाई में लगी रहे तो नेंदियों।  
 बाहिर होना, खेतियों तथा चारों की पैदावारों का बड़ा  
 मुश्किल नहीं है। सुदा का शुक है कि इस सलतनत\* (हिंदुस्तान)  
 में पैदों के हासिल लेने की लाग कभी नहीं थी और न है।  
 हमलदारी के सारे मुल्कों में एक दाम और एक कौड़ी में  
 हम सीरो (खाते) की दीवान-आला और खजाने आदरे में दाखिल  
 नहीं होती है, बल्कि हुकम है कि जो कोई खेती की जमीन में बत  
 लगावे तो उसका हासिल भाग रहे। उम्मेद है कि सदा मुग़ल  
 हम न्यायमंद (दोन-हीन) को हमेशा नेकनीयती की भद्रा दे।

“जब मेरी नीयत भलाई की है तो तू मुझे भलाई दे।”  
 फारसी भाषा के एक कवि ने बादशाहों की नेकनीयती का बयान  
 करने हुए कहा है—

‘तू नीयत नेक बादशह बादशाह रा।

बजाए शुभ गुरर खेजद मिया रा ॥

‘अर्थात् जो बादशाह की नीयत नेक हो तो पूज की ऊर्ध्व  
 पाम में मोनी लगे ॥’

## राम और भरत

( भी पं० रामचन्द्र शुक )

अनंत शक्ति के साथ पीरता, गंभीरता और कोमलता ‘राम’  
 का प्रधान लक्षण है। यही उनका ‘रामरथ’ है। अपनी शक्ति  
 की स्वानुमति\* ही उस उन्माद का मूल है जिससे बने-बने  
 दुःसाध्य बने होते हैं। बाल्यावस्था में ही जिस प्रसन्नता के  
 साथ दोनों भाइयों ने पर धोका और विश्रामित्र के साथ बर्दा

\* ‘गुरुक बदमिती,’ त्रिकद २, पृष्ठ २२३-२४।



त्रिमि कति-निकर दबड़ मगरान् । मेह मगेटि सना त्रिमो बान् ॥  
 ठैमेहि भरतहि सेन समेना । सानुत्र निदरि विधानउँ सेना ॥  
 पर राम के मन में भरत के प्रति ऐसा मंदेह होना ही नहीं  
 है । अपनी सुशीलता के बल से उन्हें उनकी सुशीलता पर पूरा  
 विश्वास है । वे तुरन्त समझाने हैं—

मुनहु लखन ! भल भरतसरीमा । विधि-वर्षन महे मुना न दोषा ॥  
 भरतहि दोह न राज-मद विधि हरि-हर-बद पाह ।

कहूँ कि कांजी-सीकरनि धीर-भित्तु बिनपाह ॥  
 सुमंत\* अब राम-लक्ष्मण को विदा कर अयोध्या लौटने  
 लगते हैं, तब रामचन्द्र जी अत्यन्त प्रेम-भरा सन्देश पिता से  
 कहने को कहते हैं जिसमें कहीं भी विघ्नता या उदासीनता का  
 लेश नहीं है । वे सारथी को बहुत तरह से ममकाकर कहते हैं—  
 सब विधि सोह करतव्य मुहारे । दुख न पाव विनु सोच हमारे ॥

यह कहना लक्ष्मण को अच्छा नहीं लगता । जिस निष्ठुर  
 पिता ने स्त्री के कहने में आकर वनवास दिया, उसे भला  
 सोच क्या होगी ? पिता के व्यवहार की कठोरता के सामने  
 लक्ष्मण का ध्यान उनके सत्य-पालन और परवराता की ओर  
 न गया । उनकी वृत्ति इतनी धीर और संयत\* न थी कि वे इतनी  
 दूर तक सोचने जाते । पिता के प्रति कुछ कठोर वचन वे कहने  
 लगे । पर राम ने उन्हें रोका और सारथी से बहुत बिनबी की  
 कि लक्ष्मण की ये बातें पिता से न कहना ।

हुनि क्यु लखन कही कहु बानी । प्रभु बरजेइ बह अनुचित जानी ॥  
 मकुचि राम निज मण्य दिवाई । लपन-मंदेसु करिय जनि जायी ॥

यह 'मकुचि' शब्द कितना भाव-गर्भित है । यह कवि की  
 सूक्ष्म अंतर्दृष्टि मंचित करता है । मनुष्य का जीवन सामाजिक  
 है । यह समाजवद्ध प्राणी है । उसे अपने ही आचरण पर लज्जा  
 या संकोच नहीं होना अपने कुदुस्वी, दुष्ट मित्र या माथी के



जिमके बाण लीचते ही 'उठी उदधि\* उर-अंतर ज्वाला'। उगने पहले तीन दिनों तक हर एक मकार से विनय की। विनय की मर्यादा पूरी होते ही राम ने अपना अतुल पराक्रम प्रकट किया जिसे देख लक्ष्मण को संतोष हुआ। विनय वाली नीति उन्हें पर्मद न थी। एक बार, दो बार कह देना ही काफी सामझले थे।

बाल्मीकि ने राम के मनबाम की आशा पर लक्ष्मण के महाबोध का वर्णन किया है। पर न जाने क्यों वहाँ तुलसी-राम जी इसे बचा गये हैं।

विश्रुट में अपनी कुटिलता का अनुभव करती हुई कैकेयी से राम बार-बार इमलिन मिलने हैं कि उसे यह निश्चय हो जाय कि उनके मन में उस कुटिलता का ध्यान कुछ भी नहीं है और बगड़ी ग्लानि दूर हो। वे बार-बार उनके मन में यह बात जमाना चाहते हैं कि जो कुछ हुआ, उसमें उसका कुछ भी दोष नहीं है। अपने माथ पुराई करने वाले के हृदय को शांत और शीतल करने की विना राम के सिवा और किमको हो सकती है ? दूसरी बात यह ध्यान देने की है कि राम का यह शीत-प्रवर्जन उस समय हुआ जिस समय कैकेयी का अंतःकरण अपनी कुटिलता का पूर्ण अनुभव करने के कारण इतना दुर्बल\* हो गया था कि शीत का संस्कार उस पर सब दिन के लिए प्रभु मचता था। गोस्वामी जी के अनुसार हुआ भी ऐसा ही—

कैकेयी जी की प्रियति रही।

की की बात जानु यो मुँह मग मगन न मुखि कही।

बाकी गल्ल करिक प्रसंगी ने प्रवर्जितु दीय न गही व  
इतने पर भी नहीं गर्मि\* रह मचता है ?

गोस्वाम्य प्रवर्जन के दृष्टान्त-व बात के जाना सबग मनोहर









कैसी ? यह ग्लानि अपने संबंध में लोक की घुरी धारणा के अनुमान-मात्र से उन्हें हुई थी। लोग प्रायः कहा करते हैं कि अपना मन शुद्ध है, तो संसार के कहने से क्या होता है ? यह बात केवल साधना की ऐकांतिक दृष्टि से ठीक है, लोक-संमद की दृष्टि से नहीं। आत्म-पक्ष और लोक-पक्ष दोनों का समन्वय राम-चरित का सत्य है। हमें अपनी अंतर्दृष्टि भी शुद्ध और सात्विक रखनी चाहिए और अपने संबंध में लोक की धारणा अशुद्ध बनानी चाहिए। जिसका प्रभाव लोक पर न पड़े, उसे मनुष्यत्व का पूर्ण विकास नहीं कह सकते। यदि हम वस्तुतः सात्विक-शील हैं, पर लोग धमकवा या और किसी कारण हमें मुग ममक रहे हैं, तो हमारी सात्विक-शीलता\* समाज के किसी उपयोग की नहीं। हम अपनी सात्विक-शीलता अपने साथ लिये चाहे स्वर्ग का मुख्य भोगने चले जायें, पर अपने पीछे दस-पाँच आदमियों के बीच दस-पाँच दिन के लिए भी कोई शुभ प्रभाव न छोड़ जायेंगे। ऐसे ऐकांतिक जीवन का चित्रण, जिसमें प्रमथिष्णुता\* न हो, रामायण का सत्य नहीं है। रामायण भरत जैसे पुण्यश्लोक को सामने करता है जिसके संबंध में राम कहते हैं—

मिरइहि बल-वर्षक सब, जगिज-चर्मगद-भार ।

लोक-मुक्तम, परबोह मुन, सुमिरत नाम मुग्धार ॥

जिन भरत को अयरा की इतनी ग्लानि हुई, जिनके हृदय में धर्म-भाव कभी न हटा, उनके नाम के स्मरण से लोक में वरा में मुख्य दोनों क्यों न प्राप्त हो ?

भरत के हृदय का विभ्रमण\* करने पर हम उसमें लोक-मोहार्जुता,\* भक्ति और धर्म-प्रवणता का मेल पाते हैं। राम के आश्रम पर जाकर उन्हें देखते ही भक्ति-वरा 'वाहि' 'वाहि' कहते हुए वे दृष्टी पर गिर पड़ते हैं। रामा के बीच में तब व



पूर्व रूप से पलपती हुई। भरत केवल लोक की दृष्टि में पवित्र हो न हुए, लोक को पवित्र करने वाले भी हुए। राम ने उन्हें धर्म का साक्षान् स्वरूप स्थिर किया और स्पष्ट बट दिया कि—  
भरत ! भूमि रह राउरि राणी ।

## बुढ़िया और नौशेराँ

( श्री पं० पद्मसिंह शर्मा )

बहुत से लोगों का खयाल है कि प्रजा-तन्त्र रामन प्रणाली की जननी नवीन सभ्यता ही है; राज-शासन में प्रजा के मौलिक को जानकर कार्य करना, योहप के लोगों ने ही संसार के सिखाया है। एशिया के पुराने शासकगण स्वेच्छाचार-परायण और निरे उद्वेग होते थे। उनकी शासनी दृष्टि में किसी के चुँ करने, या दम मारने की मजाल न थी। प्रजा का जान-मा और उनकी जिन्दगी-मौत खुदमुखतार\* राजा और बादशाहों पर एक 'हाँ' या 'नहीं' पर मौजूद\* थी। खरा-सी नारायणी र हुकम-उदूली\* पर करले-आम और 'विधन'\* बोल दिया जाता था खरा-खरा-सी बात पर आन-की-आन में गाँव-के-गाँव शासकी कोषाग्नि में कुँककर भस्म हो जाते थे। उनके मुँह से खुरा-भला निकल गया, यह ईश्वरेच्छा की तरह अमिट था फिर पाहे जो भी हो, पर उनका हुकम खरूर पूरा हो। उन उद्वेगता के आगे हुक्कार निकालना "जो हुकम इजूर" के सि १) कुछ और ननु-नथ करना, बल से पहले मौत को मुलाना य राजा और ईश्वर का एक दजो था—जिस तरह यह बड़ा ईश्वर अपना कोई काम किसी से पूछकर नहीं करता, यह जो भी रहम या कहर\* अपने बंटों पर नाचल\* करे उसे शुक्र ।









नहीं होगा। किन्तु भेदियों और हाथियों जैसे बनेने जो। द्वारा पालित-पोषित मानव-वामक मणमुण पकड़े गये हैं। इ। लिए इसमें मन्देह की कोई गुंजायरा नहीं। मैं जनवरी स० १९४१ में बलकसा गया था। वहाँ भी बालकृष्णनाम में नाम के एक सञ्जन मुझे मिले थे। उन्होंने मुनाया कि गने १९०२ की बात है। उन दिनों गौहाटी-आमास रेलवे बन रही थी। रेलवेवालों ने हाथियों से बचने के लिए बांटेदार तार का एक जंगला बना दिया था। इसलिए हाथी रेल के बांटे वाले के साथ बच गये। उन्होंने एक दिन आचमण\* करके उमड़ी और उसकी स्त्री की हत्या कर डाली। पर उनकी छोटी लड़की को पे उठाकर ले गये। जिस समय भी बालकृष्ण ने उस लड़की को देखा उस समय वह कोई पन्द्रह-मोल्द बचें को थी, बिलकुल नंगी थी, हाथ-पैर के बल चलती थी, बोल भी न सकती थी। एक हथिनी उसे पीठ पर उठाये फिरती थी। एक दिन हाथियों का समूह लड़की को लिये फिर रहा था। उसके सामने गन्ने और फल दलवाये गये। पर उन्होंने कुछ न खाया। तब वह लड़की हथिनी की पीठ पर से उतर कर नीचे आई। उसने गन्नों और फलों को मूँचा, फिर हथिनी की सूँड़ को हिलाया, कुछ चिल्लाई, और फिर फल खा गई। उसने रोटी नहीं खाई, मिठाई को नहीं छुआ। लड़की के फल खाने के बाद हाथियों ने भी गन्ने और फल खाना आरम्भ कर दिया। धीरे-धीरे वह लड़की दल गई। वह हाथियों के साथ प्रतिदिन आती। हाथी बाहर खड़े पहरा देते। हाथियों को जो फल-फूल दिये जाते उन को वे तब तक न खाते जब तक लड़की सूँघ कर उनको न देती। लड़की को लोगों ने "रोटी", "आलू" बोलना सिखा दिया। शैवज अकसरो की मित्रियाँ भी उस में प्यार करना थी। वह हाथियों की बोली समझती थी। वह घुत्ता पर कन्दर की भाँति







के पिल्ले जाते देखे । लड़का पकड़ लिया गया । बगपन में लड़के के पुटने पर शोट लग गई थी । यहाँ एक दारा पड़ गया था । उस दारा को देख कर लड़के की माँ ने पटखान लिया कि यह मेरा ही यह पुत्र है जिसे छः वर्ष हुए भेड़िया उठाकर ले गया था जब कि मैं और इसका पिता ग्रेन में गेट्टे काट रहे थे । कर्नल स्लीमन की चौधी घटना एक ऐसे लड़के की है जो एक बड़े भेड़िये के साथ-साथ हुलसी चलता हुआ पकड़ा गया था । इसे बाद की अवधि सोवेल इन्फेस्टरी के कर्नल ने, उनकी धर्मपत्नी और रेजिमेण्ट के दूसरे अफसरों ने देखा था । जिस अन्तिम घटना का कर्नल स्लीमन को ज्ञान है उसका आधार बाँकीपुर के एक खमीदार जुलफुवार खाँ का लक्ष्य है । जिस समय लड़के को भेड़िया उठा कर ले गया उस समय उसकी अवस्था छः वर्ष की थी । उसे उसके ले-वालक\* माता-पिता भेड़ियों से चार वर्ष बाद वापस लिया गया था ।

सन् १८७२ में बॉल को आप एक भेड़िये द्वारा पाले हुए लड़के को देखने का अवसर मिला था । सकन्दरा मिरान अनाथालय की रिपोर्ट का एक उद्धरण\* पढ़ कर उसका ध्यान उसकी ओर आकर्षित हुआ था । यह उद्धरण उस समय भारत के पत्रों में सृष्ट हो रहा था । यह उद्धरण नीचे दिया जाता है—

“एक दस वर्ष के लड़के को भेड़िये की माँ के बाहर आग जला कर भेड़ियों सहित बाहर निकाला गया । यह कहना संभव नहीं कि वह कब से भेड़ियों के साथ था, पर उसके हाथ पैर के बल पशुओं की तरह चलने और कच्चा मांस खाने के स्वभाव से जान पड़ता है कि वह अवश्य दीर्घ काल से उनके साथ रहता होगा । अभी तक भी यह बहुत अधिक जंगलों जन्तु के ही गन्नाहें उसका पे चेशब्द से कुत्ते









था, नितान्त अढ़-बुद्धि था, और जितना कोई मनुष्य अधिक-से-अधिक पशु हो सकता है वतना पशु वह था। उसे निरामिष भोजन खाने को दिया गया। पर उसने खाने से इनकार कर दिया। जब उसके सामने मांस रखा तो वह मट खा गया। मजिस्ट्रेट ने जब देखा कि लड़के को बुद्धिमान और उपयोगी बनाना संभव नहीं तो उसने इसे अनायालय में भेज दिया और उसे वहाँ रखने की प्रार्थना की।"

जिस समय सर जीवन्जी ने लड़के को देखा उस समय वह बड़ कर पूरा जवान मनुष्य बन चुका था। वह बोल नहीं सकता था, पर संकेत समझता था। जब पहले-पहल उसे मिरान में लाया गया तब वह हाथ-पायों के बल चलता था; पर अब सीधा खड़ा होकर चलने लगा था। पहले जो वह कच्चे मांस के लिए लालायित रहता था उसकी अब वह लालसा भी दब चुकी थी। अब चेरुट पीने लगा था और चेरुट खरीदने के लिए संकेतों द्वारा वैसे माँगा करता था।

सन् १६३७ में एक भारतीय पत्रिका में बिराज एच० पाकव हय वाल्श का लिखा एक वृत्तान्त प्रकाशित हुआ था। उसमें उसने मिदनापुर के एस० पी० जी० मिशन के अधिष्ठाता, रेवरेण्ड जे० ए० एल० सिंह द्वारा एक मादा भेड़िये की मर्द में दो लड़कियों के प्राप्त किये जाने की बात कही थी। पर घटना सन् १६२० में हुई थी। इससे भेड़ियों द्वारा पाले गए मनुष्य के बच्चों की घटनाओं में एक और की वृद्धि हो जाती है।

पशु-पक्षियों द्वारा पालित मनुष्य-शिशुओं की कहानियाँ पहले जिम्न-भूतों की कहानियों की तरह केवल कपोलकल्पित ही समझी जाती थी। लोग उनके सत्य होने पर विश्वास नहीं करते थे। ऐसी आश्चर्यजनक बातों पर सहसा विश्वास होना ही भी कठिन। पर उपर्युक्त घटनाओं पर अविश्वास नहीं किया











समाज उसी व्यक्ति की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो सकता है, जो 'समाज-हित में' अपने हित को शामिल करने के लिए उत्तम हो। जो समष्टिवाद व्यक्ति के अस्तित्व का नाश करके समाज को बनाना चाहता है, वह कभी सफल नहीं हो सकता। रूस में समष्टिवाद की जितनी सफलता प्रतीत होती है, उसका कारण यही है कि लेनिन के समष्टिवाद ने परिश्रम करने वाले व्यक्तियों के व्यक्तित्व को पहले की अपेक्षा कहीं अधिक स्वार्थीन और उन्नत बना दिया है। जो शासन या व्यापार का संगठन व्यक्तियों की शक्तियों को कुचल देता है वह बालू पर बनी भीत की भांति शीघ्र ही बैठ जाता है। वस्तुतः व्यक्ति और समाज मिलकर, एक-दूसरे के सहायक बनकर ही उन्नति कर सकते हैं, परस्पर विरोधी बनकर नहीं।

यदि सब कुछ उसी तरह चले, जैसे चलना चाहिए, तो संसार में सब स्वाधीन-ही-स्वाधीन दिखाई दें, क्योंकि हम देख चुके हैं कि स्वाधीनता सभी को प्यारी है। परन्तु जब मनुष्य एक-दूसरे के सम्बन्ध में आते हैं—अर्थात् व्यक्ति समाज में प्रवेश करता है, तो एक की जगह उसकी दो विशेषताएँ उद्भूत हो जाती हैं। वह अपनी अलग हस्ती रखना चाहता है, परन्तु साथ ही समाज की ओर लिपता भी है। उसे हम असामाजिक सामाजिकता या सामाजिक असामाजिकता कह सकते हैं। मनुष्य सुखी होना चाहते हैं, परन्तु औरों की अपेक्षा से। व्यक्ति बड़ा बनना चाहता है, परन्तु दूसरों की ऊँचाई नाप कर। वह समाज में रहकर ही समाज के ढंग पर और समाज की दृष्टि में ऊँचा और सुखी होना चाहता है। वह समाज में रहता, समाज से जुड़ा हस्ती रखना चाहता है। यही आकर स्वाधीनता में बाधा पड़ती है। व्यक्ति और समाज की आपस की क्रिया-प्रतिक्रिया\* से मनुष्य-समाज का इतिहास बनता है।

दासता के कई कारण हैं। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा घलवान् है। यह उस पर अधिकार जमा लेता है। यह व्यक्ति की दासता है। मभाज का एक भाग गिरोह घनाकर, शस्त्रों की महायता से या छल से, दूसरे भाग पर कायू पा जाता है। यह सामाजिक दासता है। दासता के प्रकारों की विवेचना में हम नहीं जाना चाहते। हमें केवल यहाँ इतना दिखाना है कि किसी व्यक्ति या जाति की स्वाधीनता की उलटी दासता और दासता की उलटी स्वाधीनता है।

यहाँ रहस्य की यह बात कह देनी आवश्यक है कि दासता एक भावरूपी वस्तु है और स्वाधीनता अभावरूपी। जैसे दुःख एक भावरूपी वस्तु है और दुःख के अभाव का नाम सुख है, उसी प्रकार मनुष्य की स्वाभाविक परिस्थिति तो स्वाधीनता कही जाती है, परस्पर बन्धन पड़ने से दासता का जन्म होता है। बन्धन के हटने ही से फिर स्वाधीनता का राज्य हो जाता है। रूसो के इस कथन का कि “मनुष्य स्वतन्त्र पैदा हुआ है”, यही अभिप्राय है।

हमने दासता और स्वाधीनता दोनों के स्वरूप और परस्पर संबन्धों का विवेचन कर लिया। इसका स्वाभाविक निष्कर्ष\* यह है कि मनुष्य-जाति की उन्नति तभी संभव है जब उसे विकास की स्वाधीनता मिल जाय। विकास की स्वाधीनता के मार्ग में जो विघ्न उपस्थित होते हैं, वे दासता के नाम से पुकारे जाते हैं। दासता की कौलादी जूती पाँव से उतारे बिना व्यक्ति या जाति के पाँव आगे बढ़ने योग्य नहीं हो सकते। दासता का शिकजा मजबूत हो जाने पर प्रायः मनुष्य के हृदय में एक क्लृप्ताहत पड़ा होता है, जो उसे कहता है कि तू इस शिकजे में से निकल। यदि शिकजा अभी बहुत मजबूत नहीं हुआ, तो वह बाद पारश्रम से दृढ़ जाता है, परन्तु यदि दासता के बन्धन



पटुत रह दो चुके हैं, तो मनुष्य को व्यक्तिरूप में या ममष्टि में एक हलचल पैदा करनी पड़ती है और तभी का नाम क्रान्ति, जो व्यक्तिगत अथवा ममष्टिगत जीवन की रुद्धि और कमजोरियों को हटाकर उसमें स्वाधीनता का प्राण फूँक देती है।

## विज्ञान

( भी पदुमलाल पुत्रालाल बरतारी )

जो गण शताब्दी के विज्ञान का इतिहास जानने हैं, उन्हें पता है कि विश्व के सभी तथ्यों का समग्र करने के लिए योग्य ने किननी चेष्टा की है। पदार्थ-विज्ञान से मनो-विज्ञान और मनो-विज्ञान से मानव-विज्ञान और समाज-विज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि होनी गई है। मनुष्य-जाति का आदि और अन्त, उनकी मध्यता का लक्ष्य तथा उनके सभी ज्ञानों का पारस्परिक सम्बन्ध, आदि सभी विषयों की आलोचना कर मनुष्य धक-मे गये हैं। संसार की बड़ो-मे-बड़ी और छोटी-मे-छोटी वस्तु का समग्र कर मनुष्य ने अपने ज्ञान के क्षेत्र को मूल विस्तृत कर लिया है। विज्ञान की इसी चेष्टा में गार्हस्थ्य, दरान आदि शास्त्रों ने भी प्राचीन रीति को छोड़कर वैज्ञानिक रीति का ही जीवन धारणाओं को धमगुन्ध मानकर दरान-शास्त्र ने अपने तथ्यों को प्रतिष्ठित किया था, उनके भी मूलमिद्वान्तों के सम्बन्ध में अब सारा गजबालु हो गये हैं। गार्हस्थ्य में भी विज्ञान ने मनुष्य के अन्तर्गत का रसभ्योदात्त\* दिया। मिश्र-मिश्र काल में मनुष्य का मन एक ही मन्था को मन ही नर्वन कया में समता है। व-यह मन एक स्वतन्त्र

जगत् ही है। इसलिए अब मूलसिद्धान्तों की विवेचना कर भिन्न-भिन्न तत्वों की रचना करने की ओर दर्शन-शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं है। अब वैचित्र्य में ही एकता का अनुसंधान करने में दर्शन अपनी कृतकृत्यता मनमक्ता है।

योरुप में विज्ञान की उन्नति के साथ-ही-साथ दार्शनिक मन में परिवर्तन हुए। इस से प्राचीन धर्म-विश्वास शिथिल होने लगा। हर्बर्ट स्पेंसर ने संशय-वाद का उपक्रम किया। यहिर्जगत् के साथ अन्तर्जगत् का समन्वय स्थापित करने का फल यह हुआ कि मन के सभी संस्कार वर्जित हो गए। वैज्ञानिक उन्नति के द्वारा मनुष्य के धर्म-भाव पर इतना घोर आपात हुआ कि नीति, कला और साहित्य, सभी में संशय-वाद की प्रधानता हो गई।

यह तो सर्वमान्य है कि विज्ञान ने मनुष्य को बहुत-सी भौतिक सुविधाएँ प्रदान की हैं। यातायात के साधनों में रेलवे, मॉटर, हवाई जहाज आदि के आविष्कारों से विन्मयजनक उन्नति हुई है। टेलीफोन, टेलीग्राफ और घेता-वे-तार द्वारा घर बैठे हजारों-लाखों लोगों की दूरी पर रहने वाले मित्र के समाचार हर भर में प्राप्त हो जाते हैं। मुद्रण-कला के महत्वपूर्ण आविष्कार के द्वारा विद्या-प्रचार में बड़ा भारी आसानी हो गई है। डाक्टरों ने वैज्ञानिक रीति में मजबूत-विद्या मीटकर मनुष्य को भीषण रोगों से दवा लिया है। विज्ञान की महापटा ने बहुत से रोगों की अव्यर्थ औषधियाँ दूँट निहाली गई हैं, जिनसे मनुष्य पहले सपना असाध्य समझा करते थे। वैज्ञानिक युग में पहले बहुत-से संशय-वादियों का बारीक-मूक-पाया टाड़ा जाता था, अब सब लक्षण-विशेषों के समझ बंदनाई महती पड़ती थी। इस क्षेत्र में विज्ञान ने हमारा दृढ़ भाव उपकार किया है। दूसरी ओर

फल-कारखानों के आधिष्कार से नाना प्रकार की शिन्धोप्रति होने के कारण आज जीवन बहुत ही सुखमय हो रहा है।

इसमें सन्देह नहीं कि इस कृत में काँटे की मोति पूँजीवाद का जन्म हुआ है, जिसके कारण पूँजीपतियों ने भ्रम-जीवियों का खून चूसना अपना धर्म समझ रखा है। सच पूछा जाय, तो कभी-कभी हमको इस विज्ञान-वाटिका में फूलों की महक से उतना आनन्द नहीं मिलता, जितना इन तीखे काँटों का डर लगा रहता है। ध्यानपूर्वक देखा जाय, तो स्पष्ट हो जायगा कि पूँजी-प्रधान शिल्पवाद ने इस मूल पर प्रकार्य अथवा अप्र-कार्य रूप से अनेक युद्ध टान दिये हैं; अनेक पिछड़े हुए देशों को दासता और अत्याचार की मर्कट पेड़ियों से जकड़ दिया है। विज्ञान ने मनुष्य की उत्पादक शक्ति के साथ विनाशक शक्ति को भी सैकड़ों गुणा बढ़ा दिया है। किन्तु प्रश्न यह है कि विज्ञान के दुरुपयोग से जो बुराइयाँ फैल रही हैं, उनके लिए विज्ञान उत्तरदायी ठहराया जा सकता है, या नहीं? क्या आग इसीलिए बड़ी घुरी पीछ है कि उसके द्वारा बहुत-से दुष्टात्मा गरीबों के घर फूँक डालते हैं? ज़गाद की तलवार, डाक्टर का नरतर और मिस्त्री का हथौड़ा, सभी एक लोहे के बने होते हैं। इसलिए क्या कोई लोहे को बुरा कह सकता है? यदि जन्ताद अपनी तलवार से दूसरे की गरदन काटता है, तो उसमें लोहे का क्या दोष? इसके अतिरिक्त विज्ञान तो पूँजीवाद की बुराइयाँ दूर करने के लिए अनेक उपायों—जैसे सहयोग या लाभ-वितरण आदि—का अवलंब ले रहा है, जिससे आशा की जाती है कि धीरे-धीरे ये बुराइयाँ जाती रहेंगी। विज्ञान यह सिद्ध करना चाहता है कि वैज्ञानिक पूँजी-प्रधान शिल्पवाद और मनुष्यों के पारस्विक अत्याचार में कोई वास्तविक अनिवार्य मन्ध नहीं है।

संप्रति हमको यह देखना है कि विज्ञान ने मनुष्य के आध्यात्मिक मार्ग में कोई रुकावट तो नहीं डाली है, और यह यदि सहायक हुआ है, तो कहाँ तक ? हमने पहले विज्ञान ने मनुष्य को 'मृत्यु के लिए मृत्यु की गोज' करना सिखा दिया है। विज्ञान ने हमको यह पाठ पढ़ा दिया है कि एक ही नियम हम अनंत प्रज्ञांड में व्याप्त है। विज्ञान ने मनुष्य को उन ईश्वर के दर्शन और अनुभव करने की शक्ति दी है, जिसकी इच्छा और प्रज्ञांड की घटनाओं में सर्वथा एकता है। विज्ञान के कारण हमारे अंतःकरण से उन ईश्वर की प्रतिष्ठा हटती जाती है, जो मनमाने खेल-तमारे किया करता था, जो मानसार्थक प्राणियों की तरह राग-द्वेष या हर्ष-शोक के भ्रम में पँसा रहा करता था। विज्ञान ने मनुष्य के सामने प्रज्ञांड की अनंतता खोल कर रख दी है। हम अनन्त प्रज्ञांड में उनकी और हमके मोपड़े की क्या स्थिति है, हम पर विचार करते ही हमका अज्ञान-जनित मिथ्या गर्व चकनाचूर हो जाता है। नाथ ही विज्ञान ने यह बतलाकर मनुष्य के सच्चे आत्मविश्वास और आत्मसम्मान की नींव डाल दी है कि मनुष्य किस अवस्था में उन्नत होकर किस अवस्था में पहुँच गया है। वह पशु-कोटि में बैठकर मनुष्य-कोटि में किस प्रकार पहुँचा है। विज्ञान ने अनेक प्रकार के दुःखों का विश्लेषण\* किया है। उससे मनुष्य को विज्ञानातीत धार्मिक व्याख्याओं की अपेक्षा आशावादी बनने में अधिक सहायता मिलती है। किन्ती वैज्ञानिक ईश्वरवादी को ईश्वर व्यवहार कदापि नहीं हो सकती, जैसी कूपर-सरीखे अतिशय विद्वानों का म्येन्हाचारी ईश्वर से हुआ करती थी।

विज्ञान के अतिरिक्त व्यवहार में भी विज्ञान सार्वभौमिक कादों के संचालन में सहायता कर रहा है। विज्ञान ने उन नैतिक आचारों के निम्नस्तर प्राणियों का जीवन सार्थक बना दिया

है, जो पृथ्वी पर भाररूप समझे जाते थे। पहले हम अंधे, लूने, लंगड़े आदि को भोजन-वस्त्र देकर ही संतुष्ट हो जाते थे। इतनी ही हमारी सामर्थ्य थी। किन्तु आज वैज्ञानिक आविष्कारों के द्वारा हम उनको शिक्षा दे सकते हैं, जिससे वे केवल रूपवा ही नहीं कमा सकते, बरन् हमारे समाज के उत्साही और उपयोगी अंग बन जाते हैं।

यातायात\*, पत्र-व्यवहार या समाचार-वितरण के उन्नत साधनों का भी भौतिक सुविधा के अतिरिक्त एक आध्यात्मिक पहलू है। संसार-भर के मनुष्य परस्पर भाई-भाई हैं, यह उस मिठांव अभी तक मिठांत मात्र था; किन्तु विज्ञान को इतने से संतोष नहीं हो सकता। वह इन साधनों के द्वारा यह दिखलाना चाहता है कि वास्तव में संसार एक बड़ा भारी कुटुंब है।

यह सर्वमान्य है कि संसार में जो कुछ सुन्दर और भेयस्कर\* दिशाई दे रहा है, वह सब मनुष्य की आत्मा में ही प्रकट हुआ है। मनुष्य ने ही मध्यता के प्रत्येक अंग—राज्य और साम्रज्य, मंदिर और मस्जिद, शिष्य और कला, पूँजी और मशीन, मसा और संगठन आदि—का निर्माण किया है। मनुष्यों ने ही भाषाएँ बनाई हैं। मनुष्यों ही ने पुराणों की रचना की है। मनुष्यों ने ही धर्म बसाये हैं। मनुष्यों ने ही स्वर्ग और नरक की सृष्टि की है। कृष्ण, बाइबल और गीता भी पृथ्वी की उपज हैं। ब्रह्मा, विष्णु से लेकर भूत-देव तक सभी जगदी आत्मा में प्रकट हुए हैं। यह तो सब है कि ईश्वर ने मनुष्य को बनाया है, किन्तु आजकल बहुत-से मनुष्य यह भी कहने लगे हैं कि नहीं, मनुष्य ने ईश्वर को बनाया है। कुछ भी हो, मनुष्य के

सबसे ऊँच गौरव की बात यह है कि उसने अपने ही हाथों उन्नत मनुष्य की जेली में उठाकर मनुष्य बना लिया है। ऐसी बातें अब तो हमें बड़ा मरह रहा होगा कि वह कभी



आज हम अपनी यात्रा के मध्य में आ गये हैं। बहुत संभव है, अंत तक पहुँचने-पहुँचते हम अपनी वर्तमान अवस्था को भूल जायें, जैसे कि आज हम अपनी प्रारम्भिक दशा को भूल रहे हैं। भविष्य का अनुमान करने के लिए मूलकाल पर दृष्टिगत करने के अतिरिक्त क्या और कोई अच्छा उपाय हो सकता है ? प्रकृति देवी अपने विक्रामपाद के द्वारा निरंतर हमें आशा का मन्त्र पढ़ाया करती है।

आशा के अतिरिक्त हमें आत्मविश्वास की बड़ी मारी आवश्यकता है। यह तो प्रत्यक्ष है कि हमारा मस्तिष्क और शरीर आकाश से संसार में नहीं आ टपका है, हमारी अन्तरात्मा से ही इसका विकास हुआ है। मनुष्य परमात्मा का सबसे प्यारा पुत्र है। वनधर में लेकर धर्मनिष्ठ तक, गुहावासी\* से लेकर नागरिक तक, मांमण्डि से लेकर माध्या के शिखर तक अनेक रूपों में हमने धमका किया है, और यही कहानी हमारे ज्ञान-कोश का असली तन्त्र है। हम सुन्दर संसार में योग्यतम को सदैव विजयश्री प्राप्त होती रहो है। उसमें सैकड़ों त्रुटियाँ मले ही हों, पर है यह संसार की सर्वोत्तम वस्तु। उसकी कमजोरियाँ उसकी अपरिपक्व अवस्था को सूचना देती हैं। अच्छा, यदि मनुष्य ही हम ब्रह्मांड का निरमोर है, तो उसका कौन-सा गुण सर्वोच्च और सर्वोत्कृष्ट कहा जा सकता है, उसकी वृद्धि का मुख्य आधार क्या हो सकता है, उसकी वृद्धि का असली छोट क्या हो सकता है, जिसमें उसके उत्तरोत्तर विकास की गारंटी की जाती है। एक राज्य में इसका उत्तर है 'प्रेम'। यही मानवी प्रकृति का केन्द्र है। मनुष्य में यही सबसे प्राचीन और सबसे अधिक शक्तिशाली वस्तु है। जहाँ देखिए, यहाँ—जंगल में या शहर में, महल में या छोपड़ी में—हर जगह इसी का मायाव्य छाया हुआ है। वास्तव में, वाइबल में उन





की है। आज भी बहुत-से मनुष्यों के सामने अपने जीवन का धंधा निभित करने समय पर मरन उपस्थित होता है कि कहीं मैं सबसे अधिक मलाई कर सकूँगा, चाहे मुझे वहाँ सबसे अधिक रुपया न मिले ? त्रियों में, जिनके हाथ में आज शक्ति आ रही है, प्रेम का अनुभव करने की शक्ति पुन्यों की अपेक्षा अधिक होती है। अतएव उनको संसार की अवस्था सुधारने के लिए उपयोगरूप होना चाहिए। आजकल मनुष्य अपना पेट नहीं भरना चाहते, बल्कि अपना पर भरना चाहते हैं। इसी लालच और लृप्ता के कारण सैकड़ों पुराइयों संसार में फैल रही हैं, स्वार्थ और मिथ्या अहंकार की बेहद वृद्धि हो रही है। त्रियों को ऐसे संकट के समय प्रेम और सेवा का आधार स्थापित करना चाहिए। इस वैज्ञानिक युग में ऐसा आविष्कार होना चाहिए, जिससे मनुष्य को अपनी प्रेम करने की शक्ति का यथार्थ अनुमान हो जाय। सम्यक्ता और शिक्षा का सबसे प्रथम कर्तव्य यह है कि मनुष्य की प्रेम-शक्ति संसार के सबसे अच्छे और सबसे ऊँचे पदार्थ में लगे, और उसको प्रेम की स्फूर्ति का अनुभव होने लगे। ऐसी अवस्था में आज जो हमारे नेता बने हुए हैं, वे नेता न रह जायेंगे। प्रेम ही सदाचार की पराकाष्ठा\* है। युद्ध की समाप्ति के लिए प्रेम ही सबसे अधिक उपयोगी है। आधुनिक पुराइयों दूर करने के लिए आजकल जो अनेक उपाय किये जा रहे हैं, प्रेम की स्थापना होने से उनकी यथार्थ जाँच हो जायगी। जो देखने ही के नहीं, बल्कि सचमुच मनुष्य हैं, उनके अन्तःकरण में यह शक्ति अवश्यमेव किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहती है। यदि उसको व्यक्त करने के लिए कोई सीधा मार्ग निकल आवे, तो फिर हमको किसी सुधार की आवश्यकता न रहेगी। इसी मित्रता के कारण आधुनिक अर्थ-शास्त्र और समाज-शास्त्र में बड़ा परिवर्तन हो रहा है।



मनुष्य केवल अपने स्वार्थ की सिद्धि और लोभ-वासना की पूर्ति के लिए यत्न करता है। उसका यथार्थ जीवन कितना ही पवित्र, निर्लोभ और निष्काम क्यों न हो, वह व्यवसाय के क्षेत्र में अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए ही मचेष्ट रहता है। सबसे सस्ता खरीदना और सबसे महँगा बेचना, यही उसका एकमात्र ध्येय होता है। यदि उसकी गति कभी अवरुद्ध होती है, तो न्यायान्याय के विचार से नहीं, किन्तु पारस्परिक स्पर्धा, माँग और पूर्ति के नियम से। रस्किन ने इसी शास्त्र के विरुद्ध लेख लिखकर सत्य का प्रचार किया है। सच तो यह है कि सत्य ही की खोज में रस्किन को संपत्ति-शास्त्र का खंडन करना पड़ा। सिर्फ संपत्ति-शास्त्र की ही नहीं, किन्तु साहित्य, कला और धर्म की भी उसने अच्छी तरह परीक्षा की। पहले-पहल लोगो ने उसके सिद्धान्तों का उपहास किया, परन्तु आज साहित्य, धर्म, कला अथवा संपत्ति-शास्त्र का ऐसा कोई भी आधार नहीं है, जो यह कहे कि उसका शास्त्र उम्मी रूप में आज तक विश्रमान है। यह सभी को स्वीकार करना पड़ेगा कि रस्किन ने विचार-स्रोत\* की गति बदल दी है।

## विजया की प्रथम प्रतिष्ठा

( भी आधार्य विश्वन्धु )

अयोध्यापुरी में घोवला हो चुकी थी कि दूसरे दिन प्रातः ही महाराज दरारथ की आज्ञा के अनुसार भीरामचन्द्र को युवराज के पद पर अभिषिक्त किया जायगा। जनता भीरामचन्द्र के वीरता, सम्भ्रवता, नम्रता, वसपरायणता आदि दिव्य गुणों



अच्छा हो यदि श्री रामचन्द्र कम आज्ञा का उल्लंघन कर दें और अपने आप राज्य का कार्य सँभाल लें।

परन्तु श्री रामचन्द्रजी अपने स्वाभाविक गम्भीर मुद्रा में स्थिर थे। उनकी मुख-श्री में कोई कुम्हलाहट नहीं आई। उन्होंने माता कैकेयी को हलकी-सी मुसकान से केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझा—“मुझे पिता जी की ओर आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। मैं जीने-जी पिताजी के वचन को कभी भूटा न होने दूँगा। उनको मुझ पर पूर्ण अधिकार है। मैं अपने मुख-स्वार्थ की लालसा से कभी भी उनके इस अधिकार का तिरस्कार न करूँगा, न होने दूँगा। मैं पितृ-चरणों में समर्पित हो चुका हूँ। वे जहाँ चाहेंगे वहाँ रहेंगा और जो चाहेंगे, वह करूँगा। बस, मुझे अब जाने की अनुज्ञा दीजिए।”

इतना कहने के पश्चात् पिता तथा कैकेयी के चरणों में मस्तक झुकाकर श्री रामचन्द्र बाहर निकल गये।

माता कौसल्या ने प्रभात में श्री रामचन्द्र से यह समाचार सुना तो घौखला गई। उसने माता के अधिकार को पिता के अधिकार से गुरुतर बताते हुए स्नेहमयी प्रेरणा करनी चाही कि श्रीरामचन्द्र वन को जाने का विचार न करें। लक्ष्मण ने पिता की मोहभरी अवस्था तथा अपनी क्षम-बाहुता का संकेत करते हुए श्रीरामचन्द्र को उत्तेजित करके राज्य सँभालने के लिए तैयार करना चाहा। सीताजी ने उनके संग वन जाने का हृदय संकल्प प्रकट करते हुए, मानो, उन्हें वन जाने से रोकना चाहा। मन्थिमण्डल तथा प्रजामण्डल ने उनके प्रति अपनी पूर्ण भक्ति प्रकट करते हुए और महाराज दशरथ की इस आज्ञा की निन्दा करते हुए, मानो, उनके हाथ में राज-मुकुट सौंप देना चाहा। स्वयं भरत ने उनके पीछे अयोध्या में पहुँच कर यह घटना सुनी, तो अपनी माता का दुरिन्ध्रता का अनादर करते हुए



न जाने क्या-क्या कष्ट उठाने पड़ेंगे और स्वयं मुक्त पर न जाने क्या बीतेगी—यह सब कुछ था, और वे इस काले बादल को अपने सामने स्पष्ट देख रहे थे । परन्तु क्षण-क्षण में उनकी धुध-सम अन्तरात्मा का विलुप्त प्रकारा उस काले बादल को भी जागृत्यमान कर रहा था । राज्य भीरामचन्द्र के लिए नहीं था । वे राज्य के लिए थे । प्रजा के सेवक, पालक और शिक्षक बनकर राज-मर्यादारूपी धर्म के संस्थापन तथा राजमर्यादा-भंगरूपी अधर्म के नाश के लिए ही उनका अवतार हुआ था ।

प्रतिवर्ष ही विजया अर्थात् विजयदशमी आती है और भीरामचन्द्र द्वारा किये गये अधर्म-नाश की याता को हमारे स्मृति-कलक पर नये सिरे से अङ्कित करती हुई चली जाती है । परन्तु यह हमसे भी कहीं अधिक ध्यान देने और स्मरण रखनेवाली याता है कि अयोध्या-विजय की आवार-शिला उस समय रम्बी गई थी जब भीरामचन्द्र आरम-विजया होकर बनारस को निकल पड़े थे । आत्म-भूमि में धर्म-संस्थापन करना ही अधर्म-नाश के लिए योग्यता प्रेक्षा करना है । सचो आत्म-विजय ही इस धर्म-संस्थापन का द्वार है ।

‘जो मनुष्य अपने कर्तव्यों की अधिक मीमांसा\* करते हैं और अपने अधिकारों की कम रट लगाने हैं, वे अपने जीवन में अवरण ही कुछ ठोस कार्य कर जाते हैं, प्रत्येक सत्त्व राष्ट्र-सेवक की ऐसी ही मानसिक धारणा होती है और होनी भी चाहिए ।





जायगा ? वह मालपूजा और मोहनभोग आरोगनेवाला  
 मागवान् उन भित्तिारियों की हूमी-नूची रोटी खाने जायगा ?  
 कभी नहीं हो सकता । हम अपने बनवाये हुए विराल राज-  
 मन्दिरों में उन दीन-दुर्बलों को आने भी न देंगे । उन पतितों  
 और अछूतों की छाया तक हम अपने खरीदे हुए छाम ईश्वर  
 पर न पड़ने देंगे । दीन-दुर्बल भी कहीं ईश्वर-भक्त होते सुने हैं ?  
 ठहरो, ठहरो, वह कौन गा रहा है ? ठहरो, बरा सुनो । बाह !  
 तब वह खूब रहा !

मैं हूँ बस तुम्हें था जब कृपण और बन में,  
 तू लोभता मुझे था तब दीन के वतन में ।  
 तू चाह बन किसी की मुझको पुकारता था,  
 मैं था तुम्हें पुकारता संगीत में, भजन में ।

तो क्या हमारे भी 'लक्ष्मीनारायण' जी 'दरिद्र-नारायण'  
 हैं ? इस कड़ीर की सदा से तो यही मालूम हो रहा है । तो  
 क्या हम भ्रम में हैं ? अन्ध्रा, अमीरों के शाही महलों में वह  
 बेर भी नहीं रखता !

मैं जिद करूँ था दुम्बियों के द्वार पर तू,  
 मैं बाढ़ ओढ़ता था तेरी किसी चमन\* में,  
 हथरन खड़े भी कहीं होने लगे ।

बेचन निरे हृथों के तू बीच में खड़ा था,  
 मैं लगी ऐकता था मुझका कहीं चरन में ?

तो क्या हम दीनवन्धु को अब यही मंजूर है कि हम  
 अमीर लोग, घन-दौलत को खान मार कर हमको भोजन में  
 दीन-दीनों की मोचकियों की खाह खानने करें ?

'दीन-दुर्बलों को अपने अमल अन्धाधारी की बकी म  
 पसने बज्रा धनी, परमात्मा के बरसा नक हम गहूँच मचना  
 है उनका का भरा का दार बानावा हा नहीं । महान्मा



दीन-बन्धु का निवास-स्थान दीन-हृदय है। दीन-हृदय ही मन्दिर है, दीन-हृदय ही मस्जिद है, दीन-हृदय ही गिरजा है। दीन-दुर्बल का दिल दुस्माना भगवान् का मन्दिर ढहाना है। दीनों को सताना सबसे भारी धर्मविद्रोह है। दीन की आह समस्त धर्मकर्मों को भस्मसात्\* कर देने वाली है। सन्तवर मल्लूदास ने कहा है:—

“दुस्मिया अनि\* कोइ दुस्मिये, दुस्मिये अति दुल होय ।

दुस्मिया रोइ पुकारि है, सब गुन मातो होय ॥”

दीनों को सताकर, उनकी आह से कौन मूर्ख अपने स्वर्गीय जीवन को नारकीय बनाना चाहेगा ? कौन ईश्वर-विद्रोह करने का दुस्साहस करेगा ? शरीर की आह भत्ता कभी निष्फल आ सकती है—

‘तुलसी’ हज गरीब की, कबहुं न निष्कल काम ।

मरे बैल की चाम सो, कोइ भस्म है जाव ॥

और की बात हम नहीं जानते, पर जिसके हृदय में थोड़ा-सा भी प्रेम है, वह दीन-दुर्बलों को कभी सता ही नहीं सकता। प्रेमी निर्दयी कैसे हो सकता है ? उसका उदार हृदय तो दया का आधार होता है। दीन को वह अपनी प्रेममयी दया का सबसे बड़ा और पवित्र पात्र समझता है। दीन के संकरण नेत्रों में उसे अपने प्रेमदेव की मनमोहिनी मूर्ति का दर्शन बनायास प्राप्त हो जाता है। दीन की मर्मभेदिनी\* आह में उस पाताल को अपने प्रियतम का मधुर आह्वान सुनाई देता है। इधर वह अपने दिल का दरवाजा दीन-हीनों के लिए दिन-रात खोला रहता है, और उधर परमात्मा का हृदय-द्वार दीन प्रेमी का स्वागत करने को उत्सुक रहा करता है। प्रेमी का हृदय दीनों का भवन है। दीनों का हृदय दीनबन्धु



करके संसार में भेजा है। किमी को मींग, किमी को तेज दाँत, किसी को डंक और किमी को तीक्ष्ण नय प्रकृति की ओर से ही मिले हुए हैं जिनसे वे अपने शत्रुओं में अपना बचाव स्वयं कर सकते हैं। अपनी रक्षा के लिए वे किमी के मुहताज\* नहीं। अपने रहन-सहन, खान-पान और वेप-भूषा के लिए भी उन्हें किमी दूसरे की अपेक्षा नहीं। उन्हें रहने के लिए न घरों की आवश्यक है, न पहनने के लिए कपड़ों की, न खाने के लिए दूसरों के बनाये हुए भोजन की और न बीमारी में डाक्टर की। उनकी आवश्यकताएँ उनके अपने अर्धान हैं।

पर, मनुष्य, जो अपने आपको संसार के मय जीवों में श्रेष्ठ मानता है, इस अंश में, निःसन्देह, अधूरा है। इसे प्रकृति ने सींग आदि के समान अपनी रक्षा का कोई साधन नहीं दिया। ना ही इसे ऐसा मुह\* और बलिष्ठ बनाया है कि यह बिना किसी दूसरे की सहायता के, जीवित रह सके। इसे अपने पालन-पोषण के लिए, खान-पान के लिए, रहन-सहन के लिए, वेप-वहिरावे के लिए तथा ज्ञान-विज्ञान के लिए सदा अपने साधियों की आवश्यकता रहती है। मनुष्य को अपने हर काम के लिए दूसरों का मुँह ताकना पड़ता है। जहाँ गौ और बकरी का घसा पैदा होते ही चलने-फिरने लगता है, बन्दर का घसा जन्म से ही तैरना जानता है, वहाँ मनुष्य का घसा पैदा होते ही दूसरों का मुहताज होता है। चलना-फरना और तैरना तो दूर रहा, इसे तो बैठना और खाना तक भी नहीं आता। यदि माता अपनी अगाध\* ममतामयी सेवा-शुभूषा से उसका पालन न करे, तो शायद उसका संसार में जीवित रहना भी असंभव हो जाय। मनुष्य के बच्चे को जिनकी दूसरों की सहायता की आवश्यकता है, उनकी और किमी जन्तु के बच्चे की नहीं।



माता हमारी रोटी न पकाये, यदि नौकर हमारे घरतन साधन न करे, और यदि ये सभी काम हमें स्वयं करने पड़ें, तो प्रत्येक बाधक मोघ सकता है कि उसकी पढ़ाई के लिए कितना समय मिल सकता है। इस प्रकार प्रत्येक बालक की पढ़ाई में और फलतः उसके द्वारा उन्नति और महत्ता\* प्राप्त करने में उन सब बाधों, समार, बाधक और दूसरे अमंजब्य मनुष्यों की सेवा का पर्याप्त भाग है। उन सबके परिधम तथा सहयोग का फल उड़ा कर ही एक बालक पढ़ाई कर सकता है। इसमें यह स्पष्ट है कि मनुष्य का यह अभिमान मिथ्या है कि मैं अकेला और निरपेक्ष\* होकर रह सकता हूँ। मनुष्य तो छोटे-छोटे कामों में—और आभरण तथा वृद्धि आदि बड़े-बड़े कामों में भी—महादुर्मयों की महायत्ना पर आश्रित है। इन\* प्राणियों में मनुष्य इस अंग में, निश्चय ही, बुद्ध हीन है।

अपनी इस हीनता की पूर्ति मनुष्य सामाजिक जीवन में करता है। सामाजिक जीवन पशुओं में भी है सही, पर जहाँ वह इतना गंभीर नहीं, जितना मनुष्यों में है। सामाजिक जीवन में जहाँ मनुष्य की उपयोगिता कमी की पूर्ति होती है, वहाँ इसके जीवन की भारी गरमता, मांसे मूल-आनन्द और मात्सर्य का कारण भी सामाजिक जीवन ही है। समाज में ही हमें जीवन मिलता है, समाज में ही वृद्धि एवं शक्ति मिलती है, समाज के द्वारा ही हमका रक्षा होना है और समाज ही हमकी वृद्धि और मनुष्यता का कारण है। संक्षेप में अकेला व्यक्ति इस अनन्त समाज में निनर के समान अर्द्धस्त्रिभुज\* है और समाज में मनुष्य\* में आकाश ही वह सब बुद्ध है। एक शब्द में मनुष्य है 'सब बुद्ध' का समाज है।

यह बात हमें यह और सबब मालूम है, वहाँ आत्र क









समता और समानता के अधिकार प्रदान करे। कतिपय मत्ता-धारी व्यक्तियों के हाथों निर्बलों और छोटों पर अत्याचार न होने दे। इसी परम्पर-भावना में संसार की सभी शान्ति का मूलमंत्र निहित\* है।

## सञ्चय

( अनु० श्री पं० जनार्दन झा )

“कर्तव्यः सञ्चयो नित्यं कर्तव्यो नातिसञ्चयः।”

यदि मनुष्य मारी उम्र परिश्रम करने में समर्थ होता, तो हमें अपव्यय\* आदि हानिकारक विषयों के विरुद्ध कुद्द कहने की जरूरत न थी और तब आमद-खर्च बराबर करने पर भी दुःख से समय बिताने का प्रसङ्ग न आता। क्योंकि रोख-रोख की आय से रोख-रोख का अभाव दूर होता जाता। किन्तु सारी उम्र कोई काम नहीं कर सकता। युवावस्था की शक्ति आधी उम्र बीतने पर नहीं रहती और अर्धवयस्क की शक्ति पुढ़ापे में नहीं रहती। मतलब यह कि स्वास्थ्यवस्था में मनुष्य जैसे जीविका प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं, वृद्धावस्था में भी वैसे ही असमर्थ हो जाते हैं। कितने ही तो पुढ़ापे के पहले ही रोग-शोक के द्वारा स्वास्थ्य खो बैठते हैं, और कोई काम करने योग्य नहीं रहते। तब उनकी यह पहली शक्ति, असहिष्णुता\* और उद्योगपरता\* एक भी काम नहीं आती। उस समय उन्हें या तो अपने को दूसरे की शक्ति और कमाई पर निर्भर रहना पड़ता है, या अपनी युवावस्था के सञ्चित धन पर। मनुष्य यदि जड़ली जानवरों की तरह अपने जीवन को व्यतीत कर सकते और फल मूल किया जानवरों के मांस से ही अपना













सञ्चय करने का क्या उपाय है ? धनवत्ता उपार्जन के ऊपर निर्भर नहीं है। कोई कितना ही धन प्राप्त करे उससे उसकी धनिकता व्यक्त नहीं होती। धनिकता संचय और सञ्चय के द्वारा ही जानी जाती है। संचय करके जो कुछ सञ्चय किया जाता है यथार्थ में वही धन है। अपने और अपने पौढ्य-वर्ग के आवश्यक संचय के लिए जितने धन का प्रयोजन है उतने से अधिक उपार्जन करके जो लोग कुछ सञ्चय करते हैं, वे निःसंदेह गमात्र की उन्नति के हेतु-स्वरूप हैं। सञ्चय की मात्रा अत्यल्प ही क्यों न हो, किन्तु उनका स्वाधीन-चेता और आत्मनिर्भर बनाने के हेतु वही यथेष्ट है। पहले की अपेक्षा इन दिनों क्रेय वस्तुओं का मूल्य बहुत बढ़ गया है। यह सच है कि जो थोड़ा पहले एक रुपये की मिलती थी वह अब दो रुपये देने में भी नहीं मिलती। और आमदनी में तादृश वृद्धि हुई नहीं है। थोड़ा मर्हमी होने में रुपये का संचय बढ़ गया है मही, किन्तु जितनी जो आय है उसमें से यदि नित्य प्रयोजनीय वस्तुएँ ही खरीदी जायँ, और किसी कामों में एक पैसा भी संचय न किया जाय तो प्रत्येक गृहस्थ कुछ-न-कुछ सञ्चय जरूर कर सकता है। जो लोग सञ्चय नहीं कर सकते उन्हें समझना चाहिए कि ऐसा कोई कारण जरूर है जिससे प्रयोजन के अतिरिक्त भी संचय हो जाता है। ग्राह्य करने में वना लग सकता है कि विनाश प्रियता की, या अपनी आवश्यकता में बहुत आसानी की शायद जन या जो कनार्थ में नियमाधिक मूल्य होने अथवा नमस्कार के अर्थ में मूल्य का न संचय करने की वृत्ति बनने लगी है। इस प्रकार इस तरह का कोई और ही कारण संचय न करने का है। इस तरह के कारणों से संचय करने की आवश्यकता बढ़ने में सञ्चय करने वाले दुर्बल होते हैं। इस कारण से संचय करने में संचय करने वाले के लिए



फेफड़े खुलते हैं और एक-एक नस से दूषित वायु बाहर निकल आती है। इससे मन को शान्ति होती है। बहुत-सी चिन्तार्थ हैंसी की हवा में उड़ जाती हैं। किसी भी प्रकार के मनोरंजन से मन को विश्राम मिल जाता है।

पूर्ण विश्राम का प्रधान साधन निद्रा है। स्वाभाविक मानसिक तथा शारीरिक शान्ति पूर्ण मात्रा में उसीसे मिलती है। इसलिए उचित मात्रा में प्रगाढ़ निद्रा शरीर के लिए सबसे प्रमुख 'टॉनिक'\* होती है। निद्रा के सम्बन्ध में विरोध रूप से कुछ जान लेना आवश्यक है।

निश्चित समय पर स्वाभाविक निद्रा ही स्वास्थ्य-प्रद होती है। उसको प्राप्त करने के लिए सुंदर पलंग और बिछौने की उतनी आवश्यकता नहीं होती, जितनी स्वाभाविक आहार और परिश्रम की। पाचन-क्रिया ठीक रखने से और दिन में कुछ शारीरिक परिश्रम करने से रात में अच्छी नींद आती है।

नींद एक शारीरिक क्रिया नहीं, मुख्यतः मानसिक क्रिया है। मस्तिष्क को हलका करने से ही नींद आती है। मन में चिन्ता रहने से वह दूर भागती है। इसलिए लेटने पर किसी ऐसे कार्य की चिन्ता न करनी चाहिए, जिसके सुलझाने में मन को विचार करना पड़े। किसी पुराने विषय को सोचिए—ऐसे विषय को सोचिए, जिसमें आपको सफलता मिल चुकी हो। किसी मधुर-स्मृति\* में मन को लगाइये। उससे यह होगा कि मनको चिन्तन न करना पड़ेगा, वह सुलझी-सुलझाई बातों का रस लेगा और जानी-बूझी गलतियों ही में धूमेगा। उस पर नये विचारों का दबाव न पड़ेगा और वह रस-मग्न होकर सो जायगा। मनोवैज्ञानिकों ने निद्रा का यही श्रेष्ठ उपाय बताया है। दूसरा उपाय है सोने के पहने कोई मनोरंजक उपन्यास, कहानी या काव्य पढ़ना अथवा स्वप्नना से प्रभावित करना।







प्राचीन काल अथवा वैदिक काल में सास-बहू का संबंध ठीक माता और पुत्री के संबंध के समान ही होता था। वधू सास को माता के समान ही आदरणीय और अपना शुभ-चितक समझकर उसके आदर्शों पर चलना ही अपना कर्तव्य समझती थी। इसके अतिरिक्त सास भी वधू को अपनी पुत्री से अधिक समझकर उससे प्रेमपूर्ण व्यवहार करती थी; उसको धर्म-उपदेश देती थी तथा बड़ों की सेवा करने का महत्व तथा रीति बताकर उसको कभी भी सन्मार्ग से विचलित न होने देती थी। सास कौशल्या जी के धर्म-उपदेशों के कारण ही राम-पत्नी भी सीताजी अनेक कठिन अवसर पड़ने पर भी पतिव्रत धर्म के पालन करने में अपना नाम संसार में अमर कर गईं। सास द्वारा दिये गए संतुष्टि-पदेशों के अनेक उदाहरण हमारे प्राचीन साहित्य में पाये जाते हैं। चक्र-व्यूह-रचना के समय उसके ज्ञाता अर्जुन के यहां उपस्थित न होने के कारण अर्जुन-पुत्र अभिमन्यु, जो १६ वर्ष का निरा बालक था, सड़ार्द्र में जाने के लिए प्रस्तुत हुआ। उसकी नव-वधू उत्तरा पति को युद्ध में जाने देख पतिप्रेम से व्याकुल होकर उसको युद्ध में जाने से विचलित करने लगी। उस समय उसकी माम सुभद्रा के धर्मोपदेशों से प्रभावित होकर ही उत्तरा ने अभिमन्यु को वीर-पत्नी के अनुरूप ऊमाह में सुसज्जित कर रणभूमि में भेजा था। रामायण और महाभारत में महाकाव्य के काल के इसी प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

मध्यकाल में भारतवर्ष का राजनीतिक व सामाजिक पतन और ययनों का प्रवेश होने के कारण परम त्रेधा बहूत भी कुपथार्थ प्रचलित हो गईं। इसका मूल कारण तो 'हन्द' अशक्तियों का ययनों के अन्तर्गत में सुरक्षित रखना ही था परन्तु राज के कारण अन्तर्गत में भी धर्म की उदात्तता में बन्द









कठिन-से-कठिन कार्य को सुगमतापूर्वक कराने में समर्थ हो सकती है। यहू को सास से उपदेरा के रूप में कभी कुछ न कहना चाहिए, मृत्युत नम्रतापूर्वक, प्रेमपूर्वक, छोटा बनकर, रुढ़िवाद, परदा-प्रथा, दहेज, छूतछात इत्यादि विषयों की हानियाँ बतानी चाहिए और विरोध अवसर से लाभ उठाकर सास की मनोवृत्ति का पूरा ध्यान रखते हुए इस भाँति परिस्थितियों बनानी चाहिए कि सास भी नवप्रगति के औचित्य और लाभ को हृदयङ्गम कर सके।

बहुओं को अपनी ननद और देवर के साथ अपने छोटे भाई-बहन का-सा प्रेम-पूर्ण शिष्ट व्यवहार करना चाहिए। अवसर पड़ने पर उनकी यथोचित सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिए। दुःख-सुख के समय उनका विरोध ध्यान रखना चाहिए। ननद-देवरी में सद्व्यवहार करने का सास पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। इसमें वे भी बहुओं के साथ अपनी मंतान का-सा व्यवहार करने के लिए बाध्य हो जाती हैं।

समय के साथ-साथ जीवन के प्रत्येक पहलू में परिवर्तन करते रहना सफलता, सुख और शांति का स्रोत है। यह कभी न भूलना चाहिए, कि इस उन्नति के युग में हमारी संतान हमसे एक पीढ़ी आगे रहती है। सास अपने विचार भले न बूझें, लेकिन उनको १५ या २० वर्ष आगे के युग में रहने वाली बहु के मनोभावों का विरोध ध्यान रखना ही चाहिए। उनके साथ तथा अपनी मंतान के साथ उनको उदारतापूर्ण व्यवहार करना ही पड़ता। एक सुशिक्षित नव-वधू को शिष्टा तथा रहन-सहन में अन्य सुविधाएँ देने में मकाब न करना चाहिए।

यह है कि माता, ननद तथा बहु के विचारों में अन्तरापेक्षा रहनी ही इस कलह का मूल है। अनपेक्ष बहु को न नव-वधू के न दुर्व्यवहार का अपन प्रति ज्ञान दृष्ट कर







## श्री मोहनदास कर्मचन्द गाँधी (१८६९-१९४८)

स्वनामधन्य श्री मोहनदास कर्मचन्द गाँधी का जन्म २ सितम्बर, सन् १८६९ में काठियावाड़ के पोरबन्दर ( प्राचीन नाम मुदामापुरी ) में एक प्रतिष्ठित वैश्य घराने में हुआ। आपके पिता श्री कर्मचन्द तथा पितामह श्री उत्तमचन्द गाँधी वहाँ के दीरज थे। आपको माता अम्बुल्ल धार्मिक प्रवृत्ति की थी। कहते हैं कि मत, उपवास, अहिंसा तथा सत्य की दृढ़ निष्ठा के पुनीत भाव आपको माता के दुष्प्रभ से ही प्राप्त हुए थे।

आपकी प्रारम्भिक शिक्षा पोरबन्दर में हुई। पीछे राजकोट में आकर आपने मिडल की शिक्षा पाई। १७ वर्ष की आयु में आपने मैट्रिक किया और तभी आपका विवाह भी हो गया। १८ वर्ष की आयु में आपके पिता जी का देहान्त हो गया। सन् १८८८ में आप बैरिस्टरी के डिप्लोमा अर्जन गये और १८९१ में बैरिस्टर बनकर बम्बई हाइकोर्ट में प्रैक्टिस करने लगे। पीछे सन् १८९३ में एक मुकदमे के सम्बन्ध में आप दक्षिण अफ्रीका गये। वहाँ भारतीयों की दुर्दशा देखकर आप बहुत निम्न हुए और इसी की प्रतिक्रिया के रूप में देश-सेवा की चार्ज प्रवृत्त हुए। इस दिशा में आपने जो-जो दुष्कर कार्य किये और जिस प्रकार कठिन तपस्या, दृढ़ सत्यनिष्ठा और शान्त सन्ध्यामर के द्वारा अपने देश का उद्धार किया, वह सर्वविदित है। हमों के चरित्ररूप आप 'महात्मा गाँधी', 'राष्ट्रपिता' अथवा 'बापू' के नाम से विख्यात हुए।

साहित्य के क्षेत्र में—विशेषतया हिन्दी के प्रचार तथा सुधार के कार्य में—श्री आपकी देन अमूल्य है। आप एक कुशल लेखक तथा निर्भीक बच्चा थे। हिन्दी में आपने कई पत्र चलाये। इनके संपादक आपके 'असाम्य-हिन्दुधर्म', 'आत्मकथा' आदि अनेक ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुके हैं।

आप में एक नव निराश्रित की सच्चा ही भावना का अस्तित्व,





और संशोधन, (२) नये-नये विषयों पर हिन्दी में निरन्तर निरन्तर साहित्य की पुष्टि, (३) आलोचना का परिष्कार और (४) हिन्दी कविता में लक्ष्मीबोली का समावेश और समर्थन और हिन्दी-शब्द का नूतन संस्कार ।

गद्यलेखकों के साथ-साथ आज सुनने हुए कवि और ग्रीक समा-लोचक भी थे । भाषा के सम्बन्ध में द्विवेदी जी का यह सिद्धान्त था कि हिन्दी में 'उर्दू', 'फारसी', 'मराठी' आदि सभी भाषाओं के शब्द ले लेने चाहिए । केवल संस्कृत से काम न चलेगा । 'यदि तुम सब पराये शब्दों को निकाल दोगे तो हिन्दी में 'कड़म' तक का टोटा हो जायगा और हिन्दी कदापि समृद्धिप्राप्ति नहीं कर सकेगी' ।

आपने विविध विषयों पर खगमन आजीव पुस्तकें लिखी हैं । आप हिन्दी के इतिहास में 'युगपरिर्तक' माने जाते हैं ।

### डा. श्यामसुन्दरदास (१८७५-१९४१)

आपका जन्म बनारस में डा. देवीदत्त लाल के घर जुलाई १८७५ में हुआ और मृत्यु १९४१ में । आप पंजाब के मूलनिवासी थे, पर आपके बुढ़ा २-३ बीदी से बनारस में आ बसे थे । आपने सन् १८९० में मिटिहारा तथा १८९२ में मैट्रिक पास किया । फिर वहीं क बीम्स कॉलेज में भरती होकर सन् १८९७ में बी. ए. पास करके आप लखनऊ के ट्रेनिंग कॉलेज में चले गए । १८९९ में आप मैट्रिक हिन्दू कॉलेज के स्टूडेंट-विभाग में प्रोफेसर नियुक्त हुए । तदुपरान्त उन्नति करके कॉलेज विभाग में प्रोफेसर बने । सन् १९०० में आप के संयुक्त-सम्पादक बनाये गये, पर एक-दो वर्ष बाद ही आपने यह कार्य छोड़ दिया । सन् १९०२ में आप कॉलेज से छुटी लेकर हरिद्वार विभाग में भरती होकर शिमला आये, परन्तु वहाँ का जल-वायु सहाय्य न होने से पुनः कॉलेज में छोड़ गये । १९०३ में आप काशी छोड़कर कन्नौज चले गये और वहाँ



## श्री पं० चन्द्रधर गुलेरी (१८८३-१९२१)

गुलेरी जी का जन्म जयपुर में एक विख्यात परिवार आने में जन सन् १८८३ ( १२ भाद्रपद सं० १८४० ) को हुआ और परलोक-काल १९२१ में। आप पंजाब के मूल-निवासी थे। आपके पिता श्री. गिरधरजी पंजाब के कांगड़ा जिले के गुलेर नामक एक छोटे से राजघाटे में जयपुर में आ बसे थे। आपके महोदर श्री पं० जगद्वरजी गुलेरी जालन्धर एग्रेज्गण्ड कालेज में अध्यापक थे और अपनी इाज में ही ( पंजाब-निवाजन के बाद ) मर्गिम से रिटायर हुए हैं।

गुलेरी जी जहाँ मस्कून के प्रवाद निरुद्ध थे, वहाँ चंदेजी को उच्च शिक्षा से भी संवत्त थे। आप १८९३ में महाराजा कालेज जयपुर में भरनी हुए। १९०३ में आपने प्रवास विश्वविद्यालय से सर्वप्रथम स्नातक की. ए. पास किया। तत्पश्चात् आप मैसूर कालेज, बजमोर में अध्यापक नियुक्त हुए। वहाँ से आप दिव्दु पुनिर्विही बनाम में ओरिएंटल कालेज के प्रिंसिपल बनकर काशी चले गये और अल्प काल वहीं रहे।

गुलेरी जी जैने पुरुषर निरुद्ध थे, जैने ही मत और निमोद-जीव थे। आपकी जीवन-शैली अद्भुत थी। उसमें वाणिज्यपूर्ण विवेचन, मुख्य मुख्य, अर्थतन्त्रित्त्व अर्थतन्त्र तथा एक प्रकार का शिष्ट परिहास पाया जाता है। आपकी कृतियों और अर्थतन्त्रित्त्व बहना का सामान्य चर्चा और चर्चन लोगों को ही मिल सकता है।

जयपुर में आपने 'जागती अर्थतन्त्र' की स्थापना की थी। कई वर्षों तक आप 'समाधीपक' के संपादक रहे। 'जागती प्रचारिणी पत्रिका' का भी आपने कई वर्षें सम्पादन किया। जागती-विज्ञान प्रचारण अर्थ और शिक्षा तथा लक्षणा के सम्बन्ध में आपने अनेक अर्थ लिखे हैं। आपकी रचनाओं का एक संग्रह 'गुलेरी अर्थतन्त्र' (समाधीपक) के नाम से प्रकाशित हो चुका है। आपकी एक अर्थतन्त्र बहना का नाम 'गुलेरी अर्थतन्त्र' है।



## श्री पं० चन्द्रधर गुलेरी (१८८३-१९२१)

गुलेरी जी का जन्म जयपुर में एक विख्यात पवित्र गाने में जून सन् १८८३ ( २६ भाद्रपद सं० १९४० ) को हुआ और परब्रह्म-वाम १९२१ में। आप पंजाब के मूल-निवासी थे। आपके पिता पं० शिवराम जी पंजाब के कांगड़ा जिले के गुलेर नामक एक छोटे से राजवाड़े से जयपुर में आ बसे थे। आपके महोदय भी पं० जगद्वर जी गुलेरी जयसपुर एमोस्वरकर कालेज में अध्यापक थे और सभी हाल में ही ( पंजाब-विभाजन के बाद ) सर्विस में रिटायर हुए हैं।

गुलेरी जी जहाँ संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान् थे, वहाँ अंग्रेज़ों को उच्च शिक्षा में भी संपन्न थे। आप १८९३ में मद्रास का कालेज जयपुर में भारती हुए। १९०३ में आपने प्रधान विद्यविद्यालय से सर्वप्रथम रहकर बी. ए. पास किया। तदुपरान्त आप मैट्रो कालेज, अजमेर में अध्यापक नियुक्त हुए। वहाँ से आप हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस में चोरिबंटन कालेज के प्रिंसिपल बनकर काशी चले गये और अन्त तक वहीं रहे।

गुलेरी जी जैसे पुरंधर विद्वान् थे, जैसे ही सरल और विनोद-शील थे। आपकी लेखन-शैली अद्भुत थी। उसमें वाचस्पत्युर्लभ विवेचन, सूक्ष्म मूल्य, अर्थगमित अंगव तथा एक प्रकार का शिष्ट परिहास पाया जाता है। आपकी सुटकियों और अंगवर्णन वक्तव्य का आनन्द बहुत और बहुधा लोगों को ही मिल सकता है।

जयपुर में आपने 'नागरी भवन' की स्थापना की थी। कई वर्षों तक आप 'समालोचक' के संपादक रहे। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का भी आपने कई वर्ष सम्पादन किया। भाषाविज्ञान, प्राचीन लेख और मिहों तथा गवेषणा के सम्बन्ध में आपने अनेक लेख लिखे हैं। आपकी रचनाओं का एक संग्रह 'गुलेरी ग्रन्थ' (प्रथम खण्ड) के नाम से प्रकाशित हो चुका है। आपकी एक अमर कहानी 'इसने कहा था' बहुत ही प्रसिद्ध हुई है।



‘आपसी सम्बन्ध’ (१९३२), ‘अमर गीत’ (१९३६), ‘आनेन्दु-साहित्य’ (१९३६) ‘आप में रहस्यवाद’ (१९३६), ‘हिन्दी साहित्य का इतिहास’ (१९३७), ‘विचार-दीपी’ (१९३७), ‘गोष्ठी-नृत्य-दीप’ (१९३८), ‘त्रिपेदी’ (१९३८), ‘विन्नामिका’—दो भाग (१९३८) आदि-आदि ।

### श्री पं० रामचंद्र शर्मा

आप जवाहरपुर महाविद्यालय में अध्यापक थे । संस्कृत और हिन्दी के प्रकाण्ड विद्वान् होने हुए भी आप उर्दू-फारसी भाषा और साहित्य के शक्ति-पण्डित थे । अपने समय में आप ‘नये’ समालोचक माने जाते थे । यद्यपि भाषा की चटक-मटक और हिन्दी सीमा तक अनावश्यक एवं अशिष्ट उद्बल-वृद्ध शर्मा जी की आलोचनाओं के गायत्री-वं की अवश्य कम करनी है, तथापि सद्मद्विरेक, मानव-निरूपण तथा उचित तत्त्व-प्रतिपादन के कारण ये निःसन्देह साहित्यिकों के आदर-भाजन ही रहे हैं । आपकी ‘सतमई समालोचना’ ने हिन्दी में नृत्तनामक समीक्षण की नूतन पद्धति को जन्म दिया जो बाद में इतनी सर्वप्रिय हुई कि कई वर्ष तक लोग इसके पीछे पूरी तरह पड़े रहे ।

शर्मा जी की भाषा में एक भाव अटपटापन पाया जाता है जो अल्पत्र कम उपलब्ध होगा है । उर्दू और फारसी शब्दों का क्षेत्र उसे और भी करारा बना देता है । कभी-कभी तो भाव-गाम्भीर्य भाषा के आडम्बर में डूबना दिख जाता है कि आतंक के साहित्यिक उमर पर नाक-झोकाते लगते हैं । यह कहना अनुचित न होगा कि उनकी भाषा में एक ऐसा शीत और प्रभाव है, जो पढ़नेवाले के दिल पर चोट किये बिना नहीं रहता । श्री पं० रामचन्द्र शुक्ल जी के शब्दों में “शर्मा जी ने जो कुछ किया है वह अन्दरे ईश में किया है । उनके पक्षपात का भी साहित्यिक मूल्य है ।

‘सतमई समालोचना’ पर आपको ‘साहित्य सम्मेलन’ द्वारा (१९७०) का पुरस्कार मिला था । इसका परिचय आपने निम्नलिखित





खादौर में आपने 'आज-पात-तोड़क मचइल' की स्थापना की और १९२२ में 'कामि' (उर्दू) और युगान्तर (हिन्दी) का सम्पादन किया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दिग्गज खसौर के अधिवेशन में आप 'साहित्य परिषद्' के प्रधान थे। आप एकलुप्त साहित्यमेरी हैं। अब तक आपकी ४० से ऊपर पुस्तकें और २२० से अधिक लेख प्रकाशित हो चुके हैं। हिन्दी और उर्दू दोनों पर आपको समान अधिकार प्राप्त हैं। आप जिस भी विषय पर लिखते हैं, उसमें आपकी लेखनी पूर्ण सहाय्य मति का परिचय देती है। समाजसुधार, ज्ञानवाण का उपदेश, इतिहास, यात्रा, नारी-शिक्षा, शिक्षा-वाञ्छन, जीवन-चरित्र, संनति-निषेध, रति-शास्त्र आदि अनेक विषय आपकी साहित्य-क्रीड़ा के क्षेत्र हैं। 'सहदेवजी का भारत' पर आपको १९१७ तथा १९२६ में (१९००) और 'इस्लाम की भारत यात्रा' पर १९२६ में (१९००) के पुष्कार पंजाब सरकार की ओर से मिल चुके हैं। 'बाबक' पर आपको एक कलकत्ता भी मिला था।

श्री इन्द्र विद्याशास्त्रम्पति (जन्म १८८९)

घान्डी जन्म मन् १८६९ में हुआ । घान्डी वक्ता के सुप्रसिद्ध नेता और गुरुकुल काँगड़ी के संस्थापक भी श्री आशी भद्राजी (पूर्वनाम महाश्री मुन्शीराम) जी के सुपुत्र हैं । घान्डी सिद्धा गुरुकुल काँगड़ी से ही हुई, जहाँ के घान्डी सर्वप्रथम स्वातन्त्र्य के ।

आज वैश्वमैत्रिक और राजनैतिक कार्यों के हैं। कई बार जड़वाला भी यह बोल रहे हैं। कई कॉलेज कमरेदारों के प्रधान तथा सीवी रह चुके हैं। इतिहासकार तथा समाजसुधार के कार्यों में भी आज दूर। अद्वयमान देव हैं।

ମାତ୍ର ଶ୍ରୀ ଜ୍ଞାନ ଶୂନ୍ୟତା ଶାନ୍ତତା ଏବଂ ଏକାନ୍ତତା ହିଁ ଯଥାର୍ଥ  
 ଯଥା ଶକ୍ତି ଶୂନ୍ୟତା ଶାନ୍ତତା ଏବଂ ଏକାନ୍ତତା ହିଁ ଯଥାର୍ଥ  
 ଯଥା ଶକ୍ତି ହିଁ ଶାନ୍ତତା ଶୂନ୍ୟତା ଏବଂ ଏକାନ୍ତତା ହିଁ ଯଥାର୍ଥ



ए. धेणियों) के छात्रों का अध्यापन; वर्तमान में यूनिवर्सिटी के प्रकाशन-विभाग में सम्पादक ।

कृतियाँ—'गुप्तवंश का इतिहास,' 'मूलि-मन्त्रक,' 'प्रस्तावप्रदीपिका,' 'पंजाब में हिन्दी की प्रगति' (नागरी प्रचारियों सभा द्वारा प्रकाशित) 'चलंकारप्रवेशिका,' 'हर्यकुमुमाकर,' 'नागरिक शिक्षा' आदि-आदि लगभग १६ पुस्तकें । 'गुप्तवंश के इतिहास' पर १९३२ में पंजाब सरकार से ४००) और 'नागरिक शिक्षा' पर १९४२ में पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा २००) के प्रथम पुरस्कार मिले थे ।

### श्री आनन्द कुमार (जन्म १९१५)

आर हिन्दी के सुवित्पात साहित्यिक श्री पं० रामनरेश त्रिपाठी के उपेक्ष्यपुत्र हैं और स्वयं हिन्दी के उदीयमान लेखक हैं । आपका जन्म १९१५ में हुआ । आपने प्रयाग विश्वविद्यालय से बी. ए. परीक्षा पास की है । आपके निम्नलिखित ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं 'हिन्दी कविता का विकास', 'समाज और साहित्य', 'आत्मविकास', 'चंगराज महाकाव्य' । इनके अनिरिक्त एक दर्जन के लगभग बाजोपयोगी पुस्तकों के भी भाग रचयिता हैं । आपके लेख गहरे अध्ययन और मौखिक मूढ की मूषना देते हैं । भाषा शुद्ध और विषयानुसूक्त होती है ।

### श्रीमती राजकुमारी विन्दल (जन्म १९२६)

श्रीमती विन्दल का जन्म मेरठ शहर में २३ मई सन् १९२६ को हुआ । आपके पिता श्री रघुनाथप्रसाद जी ताजिवाबाद के प्रसिद्ध एडवोकेट हैं । आपने ताजिवाबाद के 'कन्या वैदिक हाई स्कूल' से सन् १९४३ में मैट्रिक परीक्षा पास की । अगले ही वर्ष सन् १९४४ में आपका विवाह मेरठ के श्री चमरनाथ जी विन्दल एम. ए. से सम्पन्न । श्री चमरनाथ जी भी साहित्यप्रेमी हैं और हिन्दी में एक लोक 'भारतवर्ष में उद्यानकारी' जिल चुके हैं ।







चम्पेलनीय-दिग्ने के योग्य ।  
 मृच्छाङ्गना-मिरीचक, परीचक ।  
 वरत्रा-प्रेमी, ज्ञान ।  
 नैऋत-निगूढ, निरुप, मूर्ख ।  
 कायम-स्थिर ।

काही-जब, मने दो की आलो-  
 कना करने वाला (सद्वार्ता-कथा —  
 भीत का इकल देने वाला) ।

मकर-वार, सिन्हा ।

कौरव-कौमी, बीम का चढ़ा  
 दिग्ने के दोनों दिग्ने पर दिग्ने  
 करवाने हो—दोही वाली करने  
 मने के काम दोनों है ।

गणना एक दिग्ने ।

नैऋतार्थ-दिवान का, मन्त्र,  
 कर्म ।

(२) हाँ मृच्छ में

हायगुणिनी-कौमी ।

मौरा-मृच्छान कर्तव्यवाद ।

गण-अधिकारी कर्म ।

अनन्यमन-अनन्य, विभिन्नमन ।

कर्म-कर्म-कर्म ।

कर्म-कर्म-कर्म, कर्म ।

कर्म-कर्म-कर्म ।

कर्म-कर्म-कर्म ।

कर्म-कर्म-कर्म ।

कर्म-कर्म-कर्म ।

कर्म-कर्म-कर्म ।

कर्म-कर्म-कर्म ।

कर्म-कर्म-कर्म ।

अन्य-कर्म, कर्म ।

उपर्युक्त-उपर कही हुई ।

मृच्छ-मृच्छ, कर्म ।

समावेश-अन्य कर्म, कर्म ।

माहित्य की महत्ता

भी-मृच्छान कर्म ।

कर्म-कर्म-कर्म-कर्म ।

कर्म-कर्म ।

कर्म-कर्म ।

कर्म-कर्म-कर्म, कर्म ।

कर्म-कर्म का कर्म का कर्म ।

कर्म-कर्म का कर्म का कर्म ।

कर्म-कर्म का कर्म का कर्म ।

कर्म-कर्म का कर्म का कर्म ।

कर्म-कर्म का कर्म का कर्म ।

कर्म-कर्म का कर्म का कर्म ।

कर्म-कर्म का कर्म का कर्म ।

कर्म-कर्म का कर्म का कर्म ।

कर्म-कर्म का कर्म का कर्म ।

कर्म-कर्म का कर्म का कर्म ।

कर्म-कर्म का कर्म का कर्म ।

कर्म-कर्म का कर्म का कर्म ।

कर्म-कर्म का कर्म का कर्म ।

कर्म-कर्म का कर्म का कर्म ।

कर्म-कर्म का कर्म का कर्म ।

कर्म-कर्म का कर्म का कर्म ।

कर्म-कर्म का कर्म का कर्म ।

कर्म-कर्म का कर्म का कर्म ।









हुकम-उदूली-आजाभद्र, हुकम व मानना ।

विषयन-'मातो, कारो' का शाही हुकम ।

क्रहर-दारुण अपाचार, क्रीध, क्षम ।

नाजिल-अवतरण, ऊपर से आना ।

कर्तुमर्तुमन्यथा वा कर्तुं ममर्थः जो 'करने', 'न करने' अथवा 'और तरह से करने' में समर्थ हो, सर्वतंत्रस्वतंत्र, निरंकुश ।

हुकमे-हाकिम, मर्गे-मरजात-हाकिम का हुकम अथानक मौत है । राजा की आज्ञा अथानक मृत्युमुख्य होती है ।

तर्त हुकमत-राज्य-प्रदात्री ।

प्रमाण-पुरःसर-प्रमाणों और सुक्तियों सहित ।

आदिल-न्यायकारी, अदल, इन्साफ करने वाला ।

सम-देना करके, मुकाफर, मोद देकर ।

शरी-शुभ-अम्बुमा के समान सजेद ।

हिलाक-मर गया ।

कार्तिर्यम्य स जायति-जियका यश उजाता है, बढ़ी जीता है । जाता

है वह जियकी कीर्ति हो ।

भेड़ियों द्वारा पाले हुए लड़के बनेले-बन में रहनेवाले, बन्प, जंगली ।

आक्रमण-ग्रहार, हमला ।

मृग-पक्षी ।

जियोलोजिकल सर्वे आक इण्डिया-भारतीय भूगर्भविद्या-सम्बन्धी निरीक्षण विभाग ।

कन्दरा-गुफा ।

ले-पालक-लेकर पालन-पोषण करनेवाले (दत्तकपुत्र के माता-पिता) ।

उद्धरण-उद्धृत सन्दर्भ, निकाजा हुआ भाग ।

अधिष्ठाता-अधिपति, मुख्य प्रबन्धक ।

विश्वर-देश, सूरज, बिजु ।

कपोलकल्पित-मनगढ़ंत, झूठी ।

## स्वाधीनता

मरु-स्थल-रेगिस्तान, मरुभूमि ।

बिबेकशील-विचारवान्, भले-बुरे की पहचान कर सकनेवाला ।

पोर-पोरे-दरबेक पोरी में, रोम-रोम में, सर्वत्र ।



आतिथ्य-अतिथि सम्कार ।

अमन-कलों का बाग ।

दीदार-दर्शन ।

भस्ममान-भस्मीभूत, राख में  
मिथाना ।

जनि-जन ।

मर्मभेदिनी-मर्मस्पर्शकों को तोड़ने  
वाली, मार देनेवाली ।

पर-पीर-दुमरे की पीड़ा ।

वे-पीर निगूरा, बिना पीर (गुरु)  
क (दूर) ।

— — —

### मनुष्य और समाज

महत्त्व-प्रवृत्ति-स्वाभाविक वा  
मादृशिक प्रवृत्ति, जो बिना विन्याये  
ही मनुष्यों और दूसर वस्तुओं में  
पाई जाती है ।

मुसजिन-आन्दी तरह बैठा ।

मुन्नाउ-आविन निरंतर ।

मन्द-मन्द ।

मन्द-मन्द ।

मन्द-मन्द ।

मन्द-मन्द ।

मन्द-मन्द ।

मन्द-मन्द ।

मन्द-मन्द ।

मन्द-मन्द ।

मन्द-मन्द ।

इतर-दुमरे, राख ।

अकिञ्चित्कर-कुछ भी न कर  
सकने योग्य, निष्कर्ष ।

संपर्क-समाप, सम्बन्ध ।

बल-मशीन ।

उपादेयता-प्रवण करने की  
योग्यता, उपयोगिता ।

नगण्य-प्रितकी कोई गिनती नहीं ।

नवेसुग्रीय-उपेक्षा या निरादर के  
योग्य ।

अवहेलना-उपेक्षा, निरादर ।

अन्तर्लोक-आन्तरिक ।

अव्यस्य-निर्मल ।

आधारनियम-वे नियम जिन पर  
भीर नहीं हो, बुनपायी उद्गम ।

अदृश्य-न दृश्यता का मकने  
वाला ।

परहित-माधन-दुमरे का भक्त  
करना, प्रयोगकार ।

कनक्यपरायणता-अपने कर्तव्य-  
कार्य का पूरा करने की चाहत ।

कनक्यपरायणता-अपने कर्तव्य-  
कार्य का पूरा करने की चाहत ।

कनक्यपरायणता-अपने कर्तव्य-  
कार्य का पूरा करने की चाहत ।

कनक्यपरायणता-अपने कर्तव्य-  
कार्य का पूरा करने की चाहत ।

कनक्यपरायणता-अपने कर्तव्य-  
कार्य का पूरा करने की चाहत ।

कनक्यपरायणता-अपने कर्तव्य-  
कार्य का पूरा करने की चाहत ।

कनक्यपरायणता-अपने कर्तव्य-  
कार्य का पूरा करने की चाहत ।

कनक्यपरायणता-अपने कर्तव्य-  
कार्य का पूरा करने की चाहत ।





